योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 53 : अंक : 8
नवम्बर 2020

प्रकाशन तिथि : 01.11.2020

मूल्य – एक प्रति : 20/–, द्विवार्षिक : 360/–

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 53 नवम्बर 2020 अंक : 8

पुनर्नमोऽस्तु

स्वाराज्य साम्राज्यविभूतिरेषा
भवत्कृपा श्रीमहिम प्रसादात्
प्राप्ता मया श्री गुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु

अर्थात् - हे गुरुदेव ! आपकी कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझे यह स्वाराज्य साम्राज्य की विभूति प्राप्त हुई है। आप महात्मा को मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो, बारम्बार नमस्कार हो।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY
Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	13
3.	श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- डॉ. विजय सिंह	18
4.	चित्त वृत्तिया एवं उनके लक्षण- श्री चन्द्रभान गुप्त	22
5.	संसार-रचना के पीछे उद्देय-	26
6.	मन का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्वरूप- चन्द्रहास जी	32
7.	योगासन और उनसे लाभ- द्वितीय वकासन	37

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख–

क्लेश–निवृत्ति की उपयोगी साधना

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

'सिद्धयोग' के एक अंक में हमने अविद्या जनित पंच क्लेशों का वर्णन करने का प्रयत्न किया था। यह क्लेश ही पंच पर्वा विद्या की मूलभूत है और जड़ चेतन के मूलभूत कारण है। क्लेशों के कारण ही जीव–जीव है और अज्ञानग्रस्त है। जहाँ पर श्री पातंजलि योग–दर्शन में पतंजलिदेव ने ईश्वर का लक्षण बताया है वहाँ पर उन्होंने 'क्लेश कर्म विपकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष:' कह करके ईश्वर का लक्षण किया है वहाँ पर क्लेश कर्म विपाकैरपरामृष्ट:, ईश्वर की परिभाषा में यही खास बात बतलाई है। क्लेश कर्म विपाकादैरपरामृष्ट: पहली बात और ईश्वर के लक्षण में दूसरी बात है। अर्थात् वही पुरुष विशेष ईश्वर है जो क्लेश कर्म विपाकादियों से कभी स्पर्श नहीं किया गया एवं पुरुष विशेष पुरुषोत्तम है क्लेश हेतु का पंच पर्वा विद्या जब तक साधक के साथ लगी रहती है तब तक वह केवली भाव को नहीं प्राप्त हो सकता एवं बन्धन में ग्रसित रहेगा ही। अत: साधक को चाहिए कि क्लेशों के स्वरूप को समझ करके क्लेशों की निवृत्ति को प्रयत्नशील रहे। साधक के मन में क्लेश दो रूपों से रहते हैं। वासना रूप से सूक्ष्म और वृत्तियों के रूप में परिवर्तित होने वाले स्थूल कहलाते हैं। भगवान पतंजलि देव ने क्लेश निवृत्ति के दो उपायों का वर्णन अपने योग–दर्शन में किया है। उनमें से पहला उपाय है–

ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा:।

ते पंच क्लेशा दग्धं बीज कल्पा योगिनश्चारिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति।

अर्थात् ये पांचों क्लेश दग्ध, बीज, स्वरूप होकर योगी के चित्त का अधिकार समाप्त होने पर उसी चित्त के साथ अपने रूप में अस्त हो जाया करते हैं। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। योगी साधक ज्यों–ज्यों अपना अभ्यास अधिक बढ़ाता है त्यों–त्यों उसकी अशुद्धि का नाश होता चला जाता है और विवेक–ख्याति बढ़ती है। ज्ञान की दीप्ति होती रहती है। भगवान पतंजलिदेव अपने मुखारविन्द से स्वयं बतलाते हैं–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिदाविवेक ख्याते:।

योगांगानि: = अष्टावभिधायिष्य माणानि, तेषामनुष्ठानात् पंच पर्वणो विपर्य्ययस्या शुद्धिरूपस्यक्षय: नाश:, तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्ति:, यथा यथा च साधनान्य

नुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वम–शुद्धिरापद्यते, यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते। सा खल्वेषा विवृद्धि: प्रकर्षमनुभवति आ विवेकख्याते: = आगुण पुरुषस्य रूप विज्ञानादित्यर्थ: योगांगानुष्ठानम शुद्धेर्वियोग कारणम्, यथा परशुश्छेद्यस्य, विवेकख्यातेस्तु प्राप्ति कारणं यथा धर्म: सुखस्य, नान्यथा कारणं, कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति नवैवेत्याह तद्यथा–

उत्पत्ति स्थित्यभिव्यक्ति विकार प्रत्याप्तय:।
वियोगान्य त्वधृतय: कारणं नवधा स्मृत मिती।।

तत्रोत्पत्ति कारणं मनोभवति विज्ञानस्य, स्थिति कारण मनस: पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति, अभिव्यक्ति कारणं यथाऽग्नि: पाक्यस्य, प्रत्यय कारणं धर्मज्ञानं यथा धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य प्राप्ति कारणम् योगांगानुष्ठानं विवेकख्याते:, वियोग कारणं तदेवाशुद्धे:, अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकार: एवमेकस्य स्त्री प्रत्ययस्य अविद्यामूढत्वे, द्वेषो दु:खत्वे, राग: सुखत्वे, तत्वज्ञानं माध्यस्थ्ये, धृति कारणं शरीर मिन्द्रियाणां तानि च तस्य महाभूतानि शरीराणाम्, तानि च परस्परं सर्वेषां, तैर्य्यग्यौनमानुष दैवतानि च परस्परार्थ वाद्, इत्येवं नव कारणानि तानि च यथा सम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि योगांगानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभते इति।

अर्थात् आठ प्रकार से वर्णित किये गये योगाङ्गों का पालन करने से पंचपर्वा अविद्या रूप अशुद्धि का नाश होता रहता है। एवं सम्यग् ज्ञान की दीप्ति–निरन्तर बढ़ती रहती है। ज्यों–ज्यों योगी साधनों का अनुष्ठान करता है त्यों–त्यों क्लेशों का तन्वीकरण स्वत: ही बनता चला जाता है। ज्यों–ज्यों क्लेश क्षय होते हैं त्यों–त्यों क्षय क्रमानुरोधिनी ज्ञान दीप्ति बढ़ती है। बढ़ती हुई विवेक ख्याति जब अपने पूर्ण प्रकर्ष का अनुभव करती है त्यों ही योगी को स्फुट् प्रज्ञालोक होने लगता है। योगाङ्गों का अनुष्ठान करना अविद्या जनित अशुद्धि के वियोग का कारण बनता है। जैसे कुल्हाड़ा छेद्य वस्तु के वियोग का कारण हुआ करता है, और विवेक–ख्याति की प्राप्ति का कारण बनता है। जैसे धर्म सुख का कारण हुआ करता है। शास्त्रों में नौ प्रकार के कारणों का वर्णन मिलता है वह इस प्रकार हैं–

उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व एवं धृति ये शास्त्रों में कारणों के भेद कहे गये हैं। उनका उपयोग निम्नांकित प्रकार से किया जाता है। जैसे विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन, स्थिति का कारण मन का पुरुषार्थ, जैसे शरीर की स्थिति का कारण आहार हुआ करता है। अभिव्यक्ति–रूप के देखने में रूप का आलोक अभिव्यक्ति रूप कारण है। मन का विषयान्तर में प्रवेश होना विकार रूप कारण है। जैसे अग्नि पाक्य वस्तु का कारण होती है। और जिस प्रकार से धुआँ देखने से अग्नि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार से चिन्हों के ज्ञान से मूल वस्तुतत्व का ज्ञान होना। मूल वस्तु का प्रत्यय

वस्तु ज्ञान है। और योगांगों के अनुष्ठान से विवेक ज्ञान होना प्राप्ति रूप कारण है। और यही अशुद्धि का नाशकारक होने के कारण अशुद्धि को वियोग रूप कारण है। और जैसे स्वर्णकार सोने को अन्यान्य जेवरों के रूप में बदल दिया करता है इसी प्रकार से अशुद्धि नाश होने पर मन को विवेक ज्ञान के रूप में बदल देना अन्यत्व रूप कारण है।

इसी प्रकार से स्त्री भूत कारण में मूल भाव में अविद्या, दुःख में द्वेषत्व, राग में सुखत्व, आदि–आदि कारण बनते हैं। ये सभी कारण पदार्थानन्तर में जहाँ–तहाँ सभी जगह लगाये जा सकते हैं। साधक अविद्या अन्धकार दूर करने के लिए क्लेशों का तन्वीकरण बहुत ही आवश्यक है। और उसके लिए यम–नियमों की साधना निहायत जरूरी है। यम–नियमों का वर्णन अपने योग–दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार किया है–

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।।

यथा क्रम मेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्याम:।।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ योग के अंग हैं। इनमें से प्रथम यमों का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है।

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहायमा:।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यह पाँच साधनायें यम कहलाती हैं, उनमें यम–नियमों की सब साधनाओं की आधारभूत अहिंसा है। इसी सूत्र का अर्थ करते हुए भगवान व्यासदेव अहिंसा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

अहिंसा–

तत्राहिंसा = सर्वथा सर्वदा सर्व भूतानामनभिद्रोह उत्तरे च यम नियमास्तन–मूलास्तत्सिद्धि परतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तद्वदातरूपकरणायैवोपादी–यन्ते तथा चोक्तंसखल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा ब्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमाद कृतेभ्योहिंसा निदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेबावदातरूपां अहिंसा करोति।

अर्थात् अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम–नियम अहिंसा की पुष्टि के लिए ही हैं। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं। सत्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं–

सत्यं: यथार्थे वाङ्म मनसे, यथा दृष्टं तथाऽनुमिते यथा श्रुतं तथा वाङ्मश्चेति परत्रस्वबोध संक्रान्तये वामुक्ता सा यदि न वंचिता भ्रान्तावा प्रतिपत्ति बन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्व भूतोशरार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैव मप्यभिधीयमाना भूतोपघात परैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्। तेन पुण्या भासेन पुण्य प्रति रूपकेण कष्टतम प्राप्नुयात्।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसे देखी सुनी व अनुमान की हुई दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिए न वचना से युक्त न भ्रान्ति युक्त व न अस्पष्टार्थ कही हुई, जो प्राणीमात्र के

परोपकार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य प्रयुक्त होती है वही वाणी सत्य कहलाती है। इसी के द्वारा प्राणीमात्र का भला होता है इसलिए सत्य वादन अहिंसा की निर्मलता के लिए, और इसी प्रकार अस्तेय आदि जो हैं वह भी अहिंसा की निर्मलता के लिए अन्य सब प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति किसी देश और किसी काल व समय से युक्त न हो और सार्वभौमिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। यथा भगवान पतंजलि देव के शब्दों में–

जाति देश काल समयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्।

जाति देश आदि का अभिप्राय जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं, उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वह अहिंसक है। देश में जिस प्रकार से आजकल तीर्थ आदिकों में बलिदान देने की प्रथा है तीर्थ स्थानों में जो बलि आदि देते हैं वह स्थान विशेष की हिंसा है। इसलिए देश विदेश की हिंसा और इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्य काल में हिंसा करते हैं, जैसे पुण्य विषय किसी खास समय पर आने वाली अष्टमी, चतुर्दशी आदि में बलि का विधान होता है। वह काल विशेष हिंसा कालगता हिंसा कहलाती है इसी प्रकार जो किसी खास विशेष समय के लिए बड़े–बड़े किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए हिंसा की जाती है। वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सभी प्रकार की हिंसाओं से निकल करके प्राणी मात्र में, सब देश में, सब काल में और बड़े महान किसी कार्य के लिए भी जो हिंसक नहीं वह अहिंसा रूप महाव्रत को धारण करने वाला बन जाता है।

हिंसा की हुई, कराई हुई, लोभ से, क्रोध से, मोह से, मृदु–मध्य व अधिमात्र भेदों से सैकड़ों भेदों की है। पूर्ण अहिंसा व्रती वही कहला सकता है। जो लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर किसी भी प्रकार की हिंसा न करे, न कराये, न अनुमोदन करे। भगवान् पतंजलिदेव जी लिखते हैं–

वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्।

अर्थात् जब तक साधक के सामने हिंसाव्रत आये तब तक उसको पतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर के सोचता है कि मैं अपने शत्रु को मार डालूंगा और झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूंगा। इसके धन को चुरा लूंगा इसकी स्त्री से बलात्कार करूँगा। और उसके स्थान आदि को जबरदस्ती छीनकर उसका मालिक हो जाऊँगा, इत्यादि भाव जिस साधक के मन में प्रबलता धारण करें तो साधक को इसके अतिरिक्त विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि संसाराग्नि के घोर अंगारों में पिसते हुए मैंने प्राणीमात्र को अभय देने वाला योग अपनाया है। अब मैं पुन: इस अग्नि में नहीं पड़ूंगा। इस प्रकार की धारणाओं को दृढ़ करता

हुआ मनुष्य कृत–कार्यता अनुमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचकर के पूर्ण अहिंसा व्रत को प्राप्त करता है। वह प्राणीमात्र के प्रति बैर छोड़ देता है। और इसके प्रति भी प्राणीमात्र बैर छोड़ देते हैं। भगवान पतंजलिदेव जी अहिंसा की पूर्ण पराकाष्ठा का फल बतलाते हैं–

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।।

अर्थात् अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणीमात्र बैर छोड़ देते हैं इसी कारण से इस अहिंसा के पूर्ण प्रतीक हमारे ऋषि–मुनियों के आश्रमों में शेर–चीता और साधारण मृग आदिकों का समान भाव से रहना सुनते हैं।

दूसरा यम सत्य है

सत्य की परिभाषा ऊपर अहिंसा की पुष्टि में बतला चुके हैं। अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयुक्त की हुई यह वाणी जिसमें किसी को धोखा न दिया जाये (सत्य) कहलाती है। सत्य के लिए उपनिषदों में बड़े–बड़े शब्द मिलते हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

सत्य प्रभु का रूप है व वाणी का तप है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यं।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।।
सत्यमेव जयते नानृतं।
सत्येन पंथा विततो देवयान।।

अर्थात् सत्य, ज्ञान ब्रह्मचर्य के द्वारा ही अन्तः शरीर में शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को देखता है। इसको क्षीण दोष वाले यति लोग मुश्किल से देख पाते हैं। हमेशा सत्य की ही जय होती है। देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने श्री मद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में सत् शब्द ब्रह्म का नाम बतलाया है। यथा–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधस्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा।।

अर्थात् ऊँ, तत् सत्, यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है। इसी के द्वारा वेद, यज्ञ व ब्राह्मणों का विधान हुआ है। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान–स्थान पर भरा है।

सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म, सत्यं ब्रह्म

अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है। श्री विष्णु सहस्त्र नाम में भगवान को–

सत्यः सत्य पराक्रमः। कह कह स्तुति की गई है। श्री मद्भागवत् के दशम् स्कन्ध के दूसरे अध्याय में गर्भ स्तुति के वर्णन में भगवान् को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित करके स्तुति की गई है। यथा–

सत्य व्रतं सत्य परं त्रिसत्यंस्ययोनिं निहितं च सत्ये। सत्यस्य सत्यामृत सत्यनेत्रं न सत्यात्मकंत्वां शरण प्रपन्ना।।

अर्थात् हे प्रभो! आप सत्यव्रत, सत्य–परायण व तीनों कालों में परम सत्य हैं, सत्य ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है। क्योंकि आप सत्यात्मक हैं उन सर्व शक्तिमान सच्चिदानन्दघन प्रभु का स्वरूप सत्य है। वे स्वयं सत्य हैं। सत्य स्वयं परब्रह्म है। सत्य की महाशक्ति का वर्णन करते हुए हमारे पूर्वजों ने बड़े ऊँचे स्वर से कह दिया–

स येनवायुरवावति सत्येनादित्यो
रोचते दिवि सत्यं वाचः।
प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तस्मात्सत्यं परं वदन्ति।।

सत्य ही जय का मुख्य साधन है।

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पंथा विततोदेवयानः।
ये ना क्रमन्त्यृषयोपहयप्तकामाः
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानं।।

अर्थात् सदा–सर्वदा सत्य ही की जय होती है। इस सत्य का अवलम्ब लेकर ऋषि लोग आप्त काम हो गये व उस सत्य के परम प्रतिष्ठारूप प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लिया। भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के वनवास हो जाने के बाद उनको लौटाने के विचार से गये हुए वशिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों के प्रति सत्य की महिमा को हृदय में धारण करते हुए श्री रामचन्द्रजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा–

सत्यमेवानृशंसं च, राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं, सत्यो लोके प्रतिष्ठितः।।
ऋषयश्चैव देवाश्च, सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेस्मिन् परं गच्छति चाव्ययम्।।
उद्विजन्ते यथा सर्पान्निरादनृत वादिनः।
धर्म सत्य परो लोके, मूलं सर्वस्य चोच्यते।।
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म सदाश्रितः।

सत्य मूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम्।।
दत्तमिष्टं हुत चैव तप्तानि तपांसि च।
वेदाः प्रतिष्ठाना स्तस्मात्सत्यपरो भवेत्।।

(वाल्मीक रामायण अयोध्याकाण्ड 1-10-14)

अर्थात् सत्य ही सनातन राजवृत है। राज्य की व लोक की सत्य में प्रतिष्ठा है। ऋषि मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है। यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अक्षय पद को पाता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं, इसी प्रकार अनृत वादी से डरना चाहिए। क्योंकि इस संसार में सत्य ही परम तत्व है व सभी सुकृतों का मूल है।

इस लोक-परलोक में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सत्य के आश्रित है। सत्य विश्व का मूल है। सत्य से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। सत्य ही परम तत्व है सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप सत्य पर आधारित हैं। इसी प्रकार चारों वेद सत्य द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अतः कल्याण चाहने वाले को सत्यपरायण होना चाहिए। इस प्रकार सत्य की महान महिमा को बतलाकर भगवान श्री रामचन्द्र जी अपने व अपने पिताजी के सत्य वचन के पालन के लिए अयोध्या नहीं लौटे।

ठीक इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास श्री महाराज ने अपनी रामायण में स्पष्ट लिखा है-

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये,
वेद पुराण विदित मनु गाये।
धर्म न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुराण बखाना।
नहिं असत्य सम पातक पुंजा,
गिरि सम होंय कि कोटिक गुंजा।।

इसी प्रकार अन्य सन्तों की भी वाणियों में भी सत्य की महान महिमा का वर्णन कूट-कूट कर भरा पड़ा है-

जाके ह्रदय सांच है ताके ह्रदय आप।

अर्थात् जिसके ह्रदय में सत्य है वहीं प्रभु का भी वास है। ठीक यही भाव महाभारत में व अन्यान्य आर्य ग्रन्थों में भरे पड़े हैं-

अश्वमेघ सहस्त्र च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेघ सहस्त्रेभ्य सत्यमेव विशिष्यते।।
सर्व वेदाधिगमनं सर्व तीर्थावगाहनम्।
सत्यं च वचनं राजन् समं वास्यान्नैवासमम्।।

नास्ति सत्य समो धर्मो न सत्याद्विशिष्यते परम्।
न तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते।

(महाभारत आदि पर्व 74–102–105)

अर्थात् सहस्त्रों अश्वमेधयज्ञ की तुलना करें तो सत्य ही उत्कृष्ट है। इसी प्रकार सारे वेदों का पढ़ना, तीर्थ स्नान, सत्य की तुलना में नहीं आ सकते। सत्य के समान कोई धर्म नहीं है व असत्य के समान कोई घोर पातक नहीं है।

महाभारत के शान्ति पर्व के 162 वें अध्याय में श्री भीष्म पितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया है और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि–

नान्तो शब्दो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशिसन्ति विप्रा सपितृ देवता।।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में

सत्येन सूर्यस्य तपति सत्येनाग्नि प्रदीप्यते।
सत्येन मारुतोवान्ति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।।
सत्येन देवा प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
तस्मादाहु परो धर्मस्तस्मात्सत्यन्न लंघयेत्।।
मुनयः सत्य निरताः मुनयः सत्य विक्रमाः।
मुनयः सत्य शपथारत्तः–स्मात्सत्यं विशिष्यते।।

अर्थात् सत्य की महिमा कहाँ तक वर्णन करें। सब ऋषि मुनि–देवता स्थान–स्थान पर सत्य की महिमा गाते हैं। सत्य से सूर्य तपता है। सत्य से वायु बहता है। अग्नि तपता है सत्य से ही सब प्रतिष्ठित हैं। देव लोग मुनि ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं। अतः कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। सब ऋषि–मुनियों का बल सत्य ही है। इसी प्रकार के भावों से वेद, शास्त्र व पुराण भरे पड़े हैं। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनुस्मृति के अध्याय आठ के 96वें श्लोक में निःशंक सत्यवादी को बड़ा ऊँचा महत्व दिया है। यथा–

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते।
तस्मान्नदेवा श्रेयांसो लोके अन्यं पुरुषं विदुः।।

अर्थात् निःशंक सत्यवादी का देवता लोग भी परम आदर करते हैं व उसको बड़ा मानते हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति के चौथे अध्याय में प्रिय एवं सत्य बोलने को ही सत्य सनातन धर्म बतलाया है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियं।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः।। *(मनुस्मृति अ. 4–13)*

अर्थात् सत्य बोलो किन्तु प्रिय सत्य बोलो कटु सत्य न बोलो, ऐसा न हो कि झूठ को

सत्य सा बनाकर प्रिय बोल दो। सत्य ही प्रिय मधुर शब्दों में बोलो। यही सनातन धर्म है। मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्यवादी होना चाहिए। वाणी से शब्द कहे जा सकते हैं भाव छिपाया जा सकता है, किन्तु वह सब असत्य है सत्य नहीं। जो किसी सभा में बैठकर सत्य को जानते हुए भी नहीं कहते वे इस प्रकार असत्य ही बोलते हैं–

ये तु सभ्या सदा ज्ञात्वा, तूष्णीं ध्यायन्तासते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः।।

अर्थात् जो लोग सत्य को समझते हुए भी सत्य को नहीं कहते वे सब अनृतवादी हैं। अतः मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य बोलने वाला ही सत्यवादी कहला सकता है।

सत्य वचन व वाक्सिद्धि

जो मनुष्य पूरी तरह मनसा वाचा कर्मणा सत्य बोलते हैं तथा जो अपने संकल्पमात्र को भी असत्य नहीं होने देते, उनकी बुद्धि में ऋत वास कर जाता है। वे लोग जो सोचते हैं वह सत्य है, जो कहते हैं वह सत्य है। उनकी कोई भी क्रिया असत्य नहीं हो सकती। योग–दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव जी आदेश करते हैं–

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य–

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिक स्वर्ग प्राप्नुहीति।
प्राप्नोति स्वर्गं अमोघाश्च वाक् भवति।।

अर्थात् सत्य–प्रतिष्ठ योगी जिसने अपने पूरे जीवन में कभी असत्य नहीं बोला उसकी वाणी अव्यर्थ हो जाती है। उसकी बिना प्रयत्न के वाक् सिद्धि रहती है। उसके मुख से निकला वचन कभी मिथ्या नहीं होता।

अखिल अखण्ड ब्रह्माण्ड नायक परम सत्य–स्वरूप भगवान्, श्रीकृष्ण चन्द्र जी महाराज ने महाभारत में द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए प्रतिज्ञापूर्ण अपनी वाक्–सिद्धि को कहा है–

चलेद्धि हिमांछिलो, मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्।।
सत्यं ते प्रतिजानामि, कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतमित्राञ्छ्रिया युक्तान्नचिराद्दृक्ष्यसे पतीन।।

अर्थात् हिमालय अपने स्थान से विचलित हो जाये, पृथ्वी के टुकड़े–टुकड़े हो जायें और चाहे आकाश नक्षत्रों के सहित गिर पड़े, किन्तु मेरी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती। द्रौपदी आंसू पोंछो। बहुत थोड़े समय में तुम अपने पतियों को शत्रु रहित भूमण्डल पर राज्य–श्री युक्त देखोगी। सत्य स्वरूप भगवान् ने 'सत्यं ते प्रतिजाने' कहकर उपरोक्त शब्द द्रौपदी से कहे और हुआ भी वही।

इसी प्रकार अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा को सान्त्वना देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अश्वथामा के ब्रह्मणास्त्र प्रयोग द्वारा मृत शिशु को जीवन–दान देने के समय कई बार प्रतिज्ञापूर्वक अपने सत्य को साक्षी रखते हुए कहा कि–

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्व देहिनाम्।।
नोक्तपूर्व मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन।
न च युद्धात्परावृत्त स्तथा संजीवतामयम्।।
यथा मे दीयतो धर्मा ब्राह्मणाश्च विशेषत:।
अभिमन्यो सुतो जातो मृतो जीववयन्तथा।।
यथाह नाभिजानामि विजयेन कदाचन।
विरोधन्तेन सन्तेन मृतो जीवत्त्वयं शिशु।।
यथा सत्यश्च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृत: शिशुरय, जीवतादभिमन्युज:।।
यथा कंसश्च केशीच धर्मेण निहतो मया।
तेन सत्येन वालोऽयं पुन: संजीवयतामयम्।।

(महा अश्वमेधपर्व 68–18–23)

अर्थात् अयि उत्तरे! मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता हूँ। अत: मेरी यह वाणी अवश्य ही सत्य होगी। सभी के देखते–देखते इस बालक को मैं अभी जिला देता हूँ। मैंने आज तक मजाक में भी असत्य नहीं बोला है। और नहीं युद्ध से पीछे हटा हूँ। उसी सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे।

जिस प्रकार मुझे धर्म व विशेषत: ब्राह्मण प्यारे हैं तो उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने आज तक कभी विरोध नहीं किया है तो इसी सत्य के फल स्वरूप यह मरा हुआ बालक जी उठे। जिस प्रकार सत्य व धर्म मुझ में प्रतिष्ठित हैं उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने कंस और केशी को धर्म से मारा है (न कि विरोध से) तो इस सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे। इसी प्रकार अखिल विश्वात्मा ने स्वयं भी बार–बार सत्य की शपथ ली व उसके फलस्वरूप अभिमन्यु का वह बच्चा जिन्दा हो गया।

हमारा अनुभव है जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करते हैं बहुत थोड़े समय में ही उनकी वाणी में सत्य आ जाती है।

सम्पादकीय–

आत्मा का संसार–दुःख से उद्धार करने के उपायों का कथन तथा भास और विलास नामक तपस्वियों के वृत्तान्त का आरम्भ

–योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं–रघुनन्दन! यों तत्त्वज्ञ सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) दोनों जगद्भ्रम का विचार करके परम प्रसन्न हुए। उन्होंने एक–दूसरे का आदर–सत्कार किया और फिर वे अपने–अपने कार्य में तत्पर होकर अभीष्ट स्थान को चले गये। ज्ञानी महापुरुषों के साथ विचार–विमर्श करने के कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम बुद्धि द्वारा जिसके हृदयाकाश में अहंकाररूपी काले मेघों का सर्वथा अभाव हो गया है, शरत्कालीन निर्मल आकाश की तरह जिसका विस्तृत चित्त समस्त लोगों द्वारा अनुमोदित, फलात्मक बोध से युक्त, आह्लादजनक एवं रागादि मलों से रहित हो गया है, जो ध्यान करने एवं शरण लेने योग्य, सुगम, सम्पूर्ण आनन्दों की निधि, अत्यन्त प्रसन्न विज्ञानानन्दघन परमात्मा में स्थित रहता है और जो नित्य परमात्मा के विचार में निरत, सदा अन्तर्मुखी वृत्ति से युक्त, सुखी तथा नित्य चिन्मय परमात्मा का अनुसंधान करने वाला है, उसे मानसिक शोक कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते। जो परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न, शुद्ध, भीतर से परम शान्तियुक्त एवं मननशील महात्मा है, उसे मन क्लेश नहीं दे सकता–ठीक उसी तरह, जैसे हाथी सिंह को बाधा नहीं पहुँचा सकता। ज्ञानी का अन्तःकरण तो अत्यन्त विशाल होता है; क्योंकि वह केवल विषय–भोगों की शरण लेने वाला और दीन नहीं होता। ज्यों ही 'अविद्या असत् है' यों अविद्या के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुआ, त्यों ही उसका सदा–सर्वदा के लिये अभाव हो जाता है–जैसे स्वप्न का ज्ञान हो जाने पर स्वप्रदृष्ट भोग–भूमिका सर्वथा विनाश हो जाता है। जिसकी बुद्धि विषयों की आसक्ति से रहित और केवल विज्ञानानन्दघन परमात्मा में नित्य स्थित है, उस श्रेष्ठ महापुरुष को व्यवहारपरायण रहने पर भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। जब चेतन परमात्मा के देदीप्यमान प्रकाश का उदय होता है, तब

अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानी की परमानन्द को प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। सत्–शास्त्रज्ञानरूपी सूर्यद्वारा प्रबोधित मनुष्य की अज्ञान–निद्रा का जब सर्वथा विनाश हो जाता है, तब उसे परमात्मविषयक उस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसे पा लेने पर फिर कभी मोह नहीं होता। उन्हीं दिनों का जीवन वास्तव में सफल है और वे ही क्रियाएँ सच्चे आनन्द से युक्त हैं, जिन दिनों और जिन क्रियाओं में हृदयाकाश में परमात्मारूपी चन्द्रमा के उदय होने से चेतनारूपिणी चाँदनी खिल रही हो। मोह का अतिक्रमण कर लेने वाला मनुष्य निरन्तर आत्मचिन्तन के प्रभाव से अपने अन्तःकरण में उसी प्रकार शीतलता को प्राप्त कर लेता है, जैसे चन्द्रमा अपने अन्दर वर्तमान अमृत से सदा शीतल बना रहता है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत्–शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोग से वैराग्यरूपी उल्लास से युक्त परमात्मविषयक चित्त का अभ्युदय स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। जिनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्मा की प्राप्ति की उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगल के गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकाल तक दुःखों के लिये शोक करना पड़ता है।

श्रीराम! जीवात्मा एक बैल के समान है। बुढ़ापे ने इसके शरीर को जर्जरित कर दिया है, जिससे यह शोकजनित उच्छ्वास से विडम्बित हो रहा है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशों से जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घास के लिये इसके मन में उत्कृष्ट लालसा भरी है। यह अपनी पीठ पर दुःख का भारी बोझ लिये हुए जन्मरूपी जगल में भटक रहा है और सारे शरीर में कुकर्मरूपी कीचड़ लपेटे हुए मोह–जलाशयों में लोट रहा है। उसकी दन्तपंक्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथ से यह खींचा जा रहा है। मनरूपी वणिक् ने इस पर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु–ममतारूपी बन्धन में बँधा होने के कारण चलने–फिरने में असमर्थ हो गया है। पुत्र–कलत्रकी ममताजनित जीर्णतारूपी दलदल में यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्ते पर चलने के कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलने से यह थक गया है, जिससे अब इसके चलने–फिरने की शक्ति क्षीण हो गयी है। संसार रूपी अरण्य में चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्ति रूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई; उलटे यह विषय–संसर्गजनित तीव्र ताप से संतप्त हो उठा है। बाह्य–इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुये हैं, जिससे ऊपर से तो इसका आकार सुन्दर है किन्तु अन्तःकरण दीन हो गया है। इसके गले में लटकते हुए कर्मरूपी घंटे का शब्द हो रहा है। यह जन्म–मरणरूपी गाड़ी के बोझ से लदा हुआ अज्ञान के विकट वन में लोट रहा है, ऊपर से पापरूपी कोड़ों की मार पड़ रही है, जिससे इसका शरीर भग्न हो गया है। अनर्थों में ही सदा निमग्न रहने

से दुःखी, दीन और शिथिल अंगवाला यह कर्मों के भारी भार से पीड़ित होकर करुण-क्रन्दन कर रहा है। अतः चिरकाल तक उत्तम यंत्र का आश्रय लेकर परमात्मविषयक ज्ञानरूपी बल के सहारे इसका संसाररूपी जलाशय से उद्धार करना चाहिये।

राघव! परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार होने से जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब पुनः संसार में कभी जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह तो उसी समय संसार-सागर से पार हो जाता है। श्रीराम! जैसे समुद्र को पार करने के लिये नाविक से जहाज प्राप्त होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा पुरुषों के संग से संसार-सागर को लाँघ जाने की युक्ति ज्ञात हो जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह मरुस्थल की भाँति जिस देश में परम शान्तिरूपी शीतल छाया और मोक्षरूपी फल से सम्पन्न तत्त्वज्ञ महापुरुष रूपी वृक्ष न हों, वहाँ निवास न करे। श्रीराम! कोमल और शान्तिप्रद वचन ही जिसके पत्ते हैं, सच्चरित्रता ही जिसकी छाया है, मुस्कान ही जिसके पुष्प हैं—ऐसे महापुरुषरूपी चम्पा के वृक्ष के नीचे जाने से उनके संग के प्रभाव से क्षणभर में ही आत्यन्तिक विश्राम प्राप्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है। अतः उसे चाहिए कि वह सत्संग, तीव्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक-विचार आदि उपायों से स्वयं ही अपना उद्धार कर ले, संसार की आसक्ति, ममता, कामना और देहाभिमान के गर्व से अपने-आपको जन्म-मरणरूपी कीचड़ के महासागर में न फँसाये। विवेकशील पुरुषों को सत्संग, तीव्र अभ्यास और वैराग्य आदि प्रबल उपायों द्वारा सदा यों विचार करते रहना चाहिए कि 'यह देह आदि दुःख क्या है? कैसे आया है? इसका मूल कारण क्या है? और किस साधन से इसका विनाश हो सकता है?' क्योंकि अज्ञान में निमग्न हुए अपने आत्मा का उद्धार करने में मनुष्यों का धन, मित्र, साधारण शास्त्र और बन्धु- बान्धव-कोई भी उपकारक नहीं होते। हाँ, सदा-सर्वदा साथ रहने वाले विशुद्ध मनरूपी सुहृद्के साथ थोड़ा-सा भी परामर्श करने से आत्मा का उद्धार हो जाता है। तीव्र वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नों के द्वारा विवेकपूर्वक किये गये आत्मविचार से जिसकी उपलब्धि होती है, उस परमात्मतत्त्व-साक्षात्काररूपी पोत के आश्रय से यह भवसागर पार किया जाता है। जिसके लिये लोग प्रतिदिन चिन्ता कर रहे हों और जो दुराशाओं द्वारा दग्ध हो रहा हो, उसे अपने आत्मा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; बल्कि आदरपूर्वक उसका उद्धार करना चाहिए। यह जीवात्मारूपी दंतार गजराज, जिसे बाँधने के लिये अहंकार ही सुदृढ़ आलान है, तृष्णा ही लोहे की साँकल है और मन ही जिसका मद है, जन्म-मरण के दलदल में फँस गया है; अतः इसका उद्धार करना चाहिए।

जब मनुष्य विवेक-वैराग्य की दृष्टि से यों देखने लगता है कि यह देह काष्ठ और मिट्टी

के ढेले के समान है, तब उतने से ही उसे देवाधिदेव परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। पहले जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाते हैं, तब यथार्थ आत्मज्ञानरूप सूर्य दिखायी पड़ता है। तदनन्तर उसके परिणामस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकार का पूर्णतया विनाश हो जाने पर प्रकाश का अनुभव स्वतः होने लगता है, उसी तरह अहंकार का समूल नाश हो जाने पर परमात्मा का अपने-आप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अहंकार के विनष्ट हो जाने पर जो परम आनन्द और परम शान्तिमय अवस्था होती है, वह परिपूर्णावस्था है। पूर्ण समुद्र की भाँति वह असीम होती है। न तो वह हम लोगों के मन आदि इन्द्रियों का विषय है, न उसकी किसी उपमान के साथ तुलना ही की जा सकती है और न वह विनाशशील विषयों के पीछे ही दौड़ती है, अतः उसका तीव्र प्रयत्न से निरन्तर सेवन करना चाहिये। श्रीराम! मन और अहंकार का विनाश हो जाने पर समस्त पदार्थों के अंदर विद्यमान रहने वाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपावस्था का आविर्भाव होता है, वह स्वयं समाधिसिद्ध तथा वाणी के अगोचर है। उसका तो केवल हृदय में ही अनुभव होता है। जैसे अनुभूति के बिना खाँड की मिठास का अनुभव नहीं होता, उसी तरह अनुभव के बिना परमात्मा के स्वरूप का भी ज्ञान नहीं होता।

राजीवनयन राम! 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकार के अभिमान को त्यागकर मन से ही विवेकपूर्वक विचार द्वारा संकल्पात्मक मन का छेदन करके यदि परमात्मा का साक्षात्कार न किया जाये तो चित्रलिखित सूर्य के सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगत्-दुःख का कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत महासागर की तरह विस्तारवाली एवं दुःखदायिनी संसाररूपी विपत्ति अनन्त हो जाती है। इस विषय में सह्य पर्वत के शिखर पर रहने वाले भास और विलास नामक दो मित्रों के संवादरूप में निम्नलिखित प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है। वह सह्य पर्वत नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित तथा निर्मल जल से पूर्ण बहुसंख्यक झरनों से सुशोभित है। उसके ऊपरी भाग में देवता निवास करते हैं, तलहटी में मनुष्यों ने अपना आवास स्थान बना रखा है और पृथ्वी के अंदर का हिस्सा नागों से भरा रहता है। उसकी कन्दराओं में सिद्धों का निवास स्थान है। भीतरी भाग में नाना प्रकार की खानें हैं। उसके शिखरों पर उगे हुए चन्दन-वृक्षों पर सर्प लिपटे रहते हैं और चोटियों पर सिंह दहाड़ते रहते हैं। उसी सह्य पर्वत के उत्तर-तटवर्ती शिखर पर, जहाँ फलों के भार से झुके हुए वृक्ष सुशोभित हैं, महर्षि अत्रि का अत्यन्त शोभाशाली विशाल आश्रम है। वह आश्रम सिद्धों के श्रम का अपहरण करने वाला, ब्रह्मलोक के समान उत्कृष्ट, स्वर्ग-तुल्य रमणीय और शिवजी के नगर कैलास के समान शोभासम्पन्न है। उसी विशाल आश्रम में शुक्र और

बृहस्पति नाम के दो तपस्वी रहते थे, जो आकाश मार्ग में विचरण करने वाले शुक्र और बृहस्पति के समान शास्त्रों के ज्ञाता थे। कुछ समय बाद एक ही स्थान में रहने वाले उन दोनों तपस्वियों के पवित्र शरीर वाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे—विलास और भास। वे दोनों बालक उस आश्रम में पिताओं द्वारा लगाये हुए लता—वृक्षों के लंबे—लंबे पल्लवों की तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे दोनों मित्र थे। उनके मन में एक—दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक—दूसरे से मिल—जुलकर रहते थे। उन दोनों का मन समान होने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मन ने दो भागों में विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं। इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनों ने थोड़े ही समय में बचपन को लाँघकर युवावस्था में प्रवेश किया। तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपने—अपने घोंसले से उड़कर अन्यत्र चले जायँ, उसी तरह उनके वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) बुढ़ापे से दुःखी हो शरीर का परित्याग करके स्वर्ग को चले गये। पिताओं की मृत्यु हो जाने पर उन दोनों का मुख जल से निकाले गये कमल की तरह दीन हो गया, शरीर संतप्त हो गया और उत्साह जाता रहा। वे व्यथा से अभिभूत हो गये। तदनन्तर वे पिताओं की और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके पितृशोक जनित करुणापूर्ण आर्त वाणी से विलाप करने लगे।

भय बुद्धि की हार है

भय हमारी बुद्धि की हार है, हमारे आत्मविश्वास की हार है। मनुष्य सृष्टि का श्रृंगार है, किन्तु मनुष्य तो सृष्टि की निकृष्टतम वस्तु है। भय एक मिथ्या, काल्पनिक भ्रम है। आत्मविश्वास में अनन्त शक्ति है। वह आपको ऊँचे शिखर पर ले जा सकती है। आत्मविश्वास को जगाना शुरू करें और कुछ ही समय में आप में परिवर्तन आ जाएगा। आत्म—विश्वास आस्तिकता का प्रथम चरण है, आत्मविश्वास का अभाव नास्तिकता का प्रारम्भ है, " हाँ, हाँ मैं क्या नहीं कर सकता ? मैं अवश्य कर सकता हूँ और सफल हो सकता हूँ। मैंने बड़े—बड़े काम किये हैं, आगे भी कर दूँगा। प्रभु ने मेरा हाथ पकड़ रखा है, प्रभु कृपा मेरे साथ है। " भय की सीमा नहीं होती है, कहाँ तक भय मानें।

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा

—डॉ. विजय सिंह

प्राकृतिक भक्ति वाले भगवान श्रीकृष्ण के वृन्दावन, ब्रज निवास काल को शुद्ध ब्रह्म-लीला मानते हैं क्योंकि विशुद्ध रूप से वहाँ योगैश्वर्य प्रकट हुआ है। उत्तरोत्तर मथुरा एवं द्वारिका धाम में हुये लीलाओं को विष्णु रूप में मानते हैं। **''वन्दे कृष्णं जगत् गुरुः''**। आनन्दकन्द श्री सद्गुरु भगवान के बाल्यकाल की घटना का स्मरण सुधी पाठकों को होगा ही कि कैसे बालकृष्ण नित्य-प्रति बालक सद्गुरु के साथ खेलने आया करते थे। वृन्दावन-बिहारी की लीलाओं को बड़े-बड़े योगी भी पार नहीं पा पाते फिर हम सभी कलयुगी कामासक्त, अर्थ लोलुपों की गिनती ही क्या?

सत्तावनवें अध्याय में पुनः स्यमन्तक मणि हरण, के कथा के साथ सतधन्वा उद्धार तथा अक्रूर जी को फिर से द्वारका बुलाने की कथा विस्तार से कही गयी है।

भगवान शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित् लाक्षागृह में कुन्ती समेत पाँचों पाण्डवों के जल मरने की बात सुनकर भगवान श्रीकृष्ण व बलराम जी हस्तिनापुर गये हुये थे।

इधर द्वारिका में अक्रूर और कृतवर्मा ने अवसर पाकर शतधन्वा को चढ़ाकर, बहकाकर सत्राजीत को मारकर मणि लेकर चम्पत हो गये। सत्यभामा जी अपने पिता के मारे जाने से अत्यन्त दुखी हुयीं। भगवान श्रीकृष्ण के द्वारिका लौट आने पर शतधन्वा की क्रूर कृत को बतायीं।

जब शतधन्वा को यह पता चला कि श्रीकृष्ण हमें मारने वाले हैं तो वह भयभीत हो कृतवर्मा से सहायता माँगी। कृतवर्मा तथा अक्रूर जी ने उसे टका-सा जवाब दे दिया। उन्होंने कहा—ऐसा कौन है, जो सर्वशक्तिमान भगवान से बैर ठान सकता है। जो खेल-खेल में विश्व की रचना, रक्षा और संहार करते हैं, उनकी चेष्टा को ब्रह्मा भी नहीं जानते।

य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया।।5।।

(अ. 57 स्क. 10)

अक्रूर जी से ऐसी बातें सुनकर शतधन्वा ने स्यमन्तक मणि अक्रूर जी के पास रख दी और वह तीव्र गामी घोड़े पर सवार होकर वहाँ से भागा। इधर श्रीकृष्ण एवं बलराम जी को पता लगने पर रथ से उसका पीछा किया। मिथिलापुरी के निकट पहुँचते-पहुँचते शतधन्वा

का घोड़ा गिर पड़ा, अब वह पैदल भागा। भगवान श्रीकृष्ण ने उसे दौड़ाकर अपने चक्र से उसका सिर उतार लिया। उसके वस्त्रों में उन्हें स्यमन्तक मणि नहीं मिली। भगवान श्रीकृष्ण द्वारिका लौटकर सत्यभामा को शतधन्वा को मार डालने का समाचार सुनाया। द्वारिका में शतधन्वा के मारे जाने के समाचार से डरकर कृतवर्मा एवं अक्रूर जी द्वारिका छोड़ भाग खड़े हुये। परन्तु भगवान ने दूत भेजकर अक्रूर जी को ढुँढ़वाया और उनके आने पर उनका स्वागत किया तथा प्रेम से पूछा—चाचाजी! आप सत्यवादी हैं। शतधन्वा ने वह मणि आपको दिया है अतः उसे दिखाकर हम लोगों का संदेह दूर करिये। तब अक्रूर जी ने वह मणि निकाली और श्रीकृष्ण को दे दी। भगवान ने उसे सभी को दिखाकर अक्रूर जी को लौटा दिया।

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः।।41।।

(अ. 57 स्कं. 10)

अब सबको पता चल गया था कि पाण्डव लाक्षागृह से बच निकले थे। भगवान श्रीकृष्ण पाण्डवों से मिलने इन्द्रप्रस्थ गये। पाण्डवों ने भगवान श्रीकृष्ण तथा सात्यकी आदि यदुवंशी वीरों का स्वागत–सत्कार किया। तदोपरान्त भगवान श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्ती के पास गये हाल–चाल पूछा। बुआ कुन्ती ने कहा—मैं जानती हूँ आप सर्वभूतों की आत्मा हो। अपना–पराया का भेद तुम्हारे अन्दर नहीं है। परन्तु जो सदा तुम्हारा स्मरण करते हैं उनके हृदय में बैठकर उनके कष्टों को सदा के लिये नष्ट कर देते हो—

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथापि स्मरतां शश्वत् क्लेशान् हंसि हृदिस्थितः।।10।।

(अ. 58 स्कं. 10)

प्रभो! आपका दर्शन, बड़े–बड़े योगेश्वरों को भी अधिक कठिनाई से प्राप्त होता है। हमारा पूर्वजन्मों का कौन सा पुण्य फल है जो घर बैठे आपके दर्शन हो रहे हैं।

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर।
योगेश्वरराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्।।11।।

(अ. 58 स्कं. 10)

आगे के और तथा इस अध्याय में भगवान के हजारों विवाहों का अद्‌भुत वर्णन है। संक्षेप में उनका वर्णन करना समीचीन होगा।

हस्तिनापुर में निवास करते हुये भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन एक दिन आखेट खेलते हुये यमुना जी के तट पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने देखा कि एक परमसुन्दरी कन्या तपस्यारत है। कृष्ण के भेजने पर अर्जुन ने उसके पास जाकर पूछा—सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री

हो? कहाँ से आयी हो? हे कल्याणी तुम सब बात मुझे बताओ।

उस युवती ने कहा—मैं भगवान सूर्यदेव की पुत्री कालिन्दी हूँ। मैं भगवान विष्णु को पति के रूप में पाने के लिये यह कठोर तप कर रही हूँ। अनाथों के नाथ, प्रेम वितरण करने वाले भगवान श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों।

अर्जुन से सारी बातें जानकर भगवान ने कालिन्दी को अपने रथ पर बिठा लिया और धर्मराज युधिष्ठिर के पास ले आये।

इधर भगवान श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा को आदेश देकर पाण्डवों के लिये एक अद्भुत और विचित्र नगर बनवा दिया। खाण्डव बन दहन द्वारा अग्निदेव को तृप्त कर उन्हें प्रसन्न कर दिया। उन्होंने अर्जुन को गाण्डीव धनुष, एक रथ चार श्वेत घोड़ों से युक्त, दो अटूट बाणों वाले तरकस और एक अभेद्य कवच दिया। खाण्डव–दहन के समय अर्जुन ने मयदानव को जलने से बचा लिया था। उपकार स्वरूप उसने एक परम विचित्र सभा बना कर अर्जुन को भेंट किया। इसी सभा में दुर्योधन को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हो गया था।

यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम्।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा॥24॥
सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयाञ्छ्वेतान् रथं नृप।
अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः॥26॥
मयश्च मोचितो वन्हेः सभा सख्य उपाहरत्।
यस्मिन् दुर्योधनस्यासीज्जलस्थल दृशिभ्रमः॥27॥

(अ. 58 स्कं. 10)

कुछ माह हस्तिनापुर में रुककर भगवान द्वारिका लौटकर पवित्र लग्न में कालिन्दी जी का पाणिग्रहण किया।

इसी प्रकार राजा नग्नजीत की कन्या नाग्नजिती को, दुर्दान्त सात बैलों को अपना सातरूप बनाकर नाथ कर विवाह किया।

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान॥45॥

(अ. 58 स्कं. 10)

अगले अध्याय में भौमासुर का उद्धार और सोलह हजार एक सौ कन्याओं के साथ भगवान कृष्ण के विवाह की कथा कही गयी है। यहाँ भागवत् कथा मर्मज्ञ संत डोंगरे जी का पुण्य स्मरण हो आया है। एक व्यक्ति ने मुझे बताया था कि उसकी निष्ठा कथा वाचकों में नहीं थी अतः वह इस प्रकार के आयोजनों में नहीं जाता था। एक बार वह गोरखपुर के

भीड़–भाड़ वाले बाजार से गुजरते हुये जब जा रहा था। उसे चौराहे पर लाउडस्पीकर से किसी कथावाचक का भागवत् प्रवचन सुनाई पड़ा। वे उस समय योग की महत्ता पर बोल रहे थे। वे बातें उसे ठीक–सद्गुरु प्रवचन जैसी लगी। वह गीता वाटिका पहुँच गया। वहाँ अपार भीड़ परन्तु व्यवस्थित रूप से विशाल पण्डाल में बैठकर मंचासीन एक वस्त्र पहने श्वेत–श्याम छोटी दाढ़ी वाले वक्ता को देखा और सुना। उसका मन बलात् लग गया प्रवचन सुनने में, वे भागवत् की अपूर्व व्याख्या कर रहे थे। अचानक उसे खुली आँखों भावान्तरित दृश्य दीखा। वक्ता श्रीकृष्ण प्रेम विह्वल डोंगरे महाराज न होकर स्वयं उसके सद्गुरु देव ही बोल रहे थे।

उन्हीं डोंगरे महाराज ने भागवत् रहस्योद्घाटन मे इस अध्याय की क्या व्याख्या किया है। आइये हम उसे पढ़ें।

भौमासुर ने सोलह हजार कन्याओं को बन्दी बना रखा था। ये सोलह हजार कन्यायें वेदों की ऋचायें हैं। वेद के तीन काण्डों में एक लाख मंत्र हैं। कर्मकाण्ड में अस्सी हजार, उपासना काण्ड में सोलह हजार, ज्ञानकाण्ड में चार हजार। वेदमंत्रों के देव, तपश्चर्या करके थक गये। उन्हें ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्त नहीं हुआ। सो वे कन्या रूप लेकर आये। सोलह हजार कन्याओं को मुक्त किया परन्तु उनसे कौन विवाह करे। वे सभी श्रीकृष्ण शरण में आयीं सो उन्होंने उन सभी कन्याओं के साथ विवाह कर लिया।

भौम का अर्थ है शरीर। शारीरिक सुख में जो रमा रहे वह है भौमासुर। विलासी जीव ही भौमासुर है। ऐसा व्यक्ति मंत्रों का अनर्थ करता है। कामनाओं हेतु उपयोग करता है। भोग नहीं, त्याग ही इष्ट है। धर्म की मर्यादा में रहकर अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग करो।

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा जब भौमासुर मारा गया तब पृथ्वी देवी प्रकट होकर भगवान की स्तुति किया है। उस प्रार्थना से प्रसन्न हो भगवान ने पृथ्वी के कहने पर भौमासुर पुत्र भगदत्त को अभयदान दिया। उन सोलह हजार कन्याओं को कारागार से मुक्त कराकर उन्हें उनके अपने राज्य में भेजना चाहा परन्तु वे सभी श्रीकृष्ण को ही पति रूप में वरण करना चाहती थीं। अन्ततः एक ही मुहूर्त में अलग–अलग भवनों में अलग–अलग रूप धारण करके एक साथ ही सब कुमारियों का पाणिग्रहण किया। भगवान के लिये यह कौन सा असम्भव कार्य था।

अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः।।42।।

चित्त वृत्तियाँ एवं उनके लक्षण

(श्री चन्द्रभान गुप्त, झाँसी)

प्रत्येक योगी साधक के मन में जिज्ञासा रहती है कि वह सरल से सरलतम् उपाय से अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लें। उस लक्ष्य को प्राप्त करने एवं साधना के सामने आने वाली अन्तराओं के स्वरूप को समझने के लिये निज चित्त वृत्तियों का गहन अध्ययन आवश्यक है। योग विज्ञान के वेत्ता महर्षि पतंजलि देव ने योग दर्शन में बतलाया है कि–

योगश्चित्त वृत्ति निरोध:।

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।

तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

कहते हैं कि उस समय दृष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, अर्थात् वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। एवं उससे पहले साधक वृत्ति के स्वरूप में होता है। जब तक योग साधनों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं हो जाता तब तक दृष्टा अपने चित्त की वृत्ति के ही अनुरूप अपना स्वरूप समझता रहता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अत: चित्त वृत्ति निरोध रूप योग अवश्य कर्त्तव्य है। चित्त की वृत्तियाँ असंख्य होती हैं लेकिन सूक्ष्म में उन्हें पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

वृत्तय: पंचतय्य क्लिष्टाक्लिष्टा।

अर्थात् क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। (1) प्रमाण (2) विपर्यय (3) विकल्प (4) निद्रा (5) स्मृति।

प्रमाण वृत्ति

प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि

अर्थात् प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इनको इस प्रकार समझना चाहिए।

1. **प्रत्यक्ष प्रमाण**–बुद्धि, मन और इन्द्रियों के द्वारा जानने में आने वाले जितने भी पदार्थ हैं, उनका अन्त:करण और इन्द्रियों के साथ बिना किसी व्यवधान के सम्बन्ध होने से, जो भ्रान्ति तथा संशय रहित ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव से होने वाली प्रमाण वृत्ति है। जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से संसार के पदार्थों की क्षण–भंगुरता का निश्चय होकर या सब प्रकार से उनमें दु:ख की प्रतीति होकर मनुष्य का सांसारिक पदार्थों में वैराग्य हो जाता है,

जो चित्त की वृत्तियों को रोकने में सहायक हैं, जिनसे मनुष्य की योग साधन में श्रद्धा और उत्साह बढ़ते हैं, उनसे होने वाली प्रमाण वृत्ति तो अक्लिष्ट है तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से मनुष्य को सांसारिक पदार्थ नित्य और सुख रूप प्रतीत होते हैं, भोगों में आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्य के विरोधी भावों को बढ़ाने वाले हैं, उनसे होने वाली प्रमाण वृत्ति क्लिष्ट है।

2. अनुमान प्रमाण–किसी प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे युक्तियों द्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है, वह अनुमान से होने वाली प्रमाण वृत्ति है। जैसे धूम को देखकर अग्नि की विद्यमानता का ज्ञान होना, नदी में बाढ़ आया देखकर दूर देश में वृष्टि होने का ज्ञान होना इत्यादि, इन में भी जिन अनुमानों से मनुष्य को संसार के पदार्थों की अनित्यता, दुःख रूपता आदि दोषों का ज्ञान होकर उनमें वैराग्य होता है और योग के साधनों में श्रद्धा होता है, जो आत्म ज्ञान में सहायक है, वे सब वृत्तियाँ तो अक्लिष्ट हैं और उनके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

3. आगम–प्रमाण–वेद शास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरुषों के वचन को आगम कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्य के अन्तःकरण और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं हैं एवं जहाँ अनुमान की भी पहुँच नहीं है, उसके स्वरूप का ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरुषों के वचनों से होता है, वह आगम से होने वाली प्रमाण वृत्ति है। जिस आगम प्रमाण से मनुष्य का भोगों में वैराग्य होता है और योग साधनों में श्रद्धा उत्साह बढ़ते हैं, वह तो अक्लिष्ट है और जिस आगम–प्रमाण से भोगों मे प्रवृत्ति और योग साधनों में अरुचि हो, जैसे स्वर्ग लोक के भोगों की प्रशंसा सुनकर उनमें और उनके साधन रूप सकाम कर्मों में आसक्ति और प्रवृत्ति होती है, वह क्लिष्ट है।

विपर्यय वृत्ति

विपर्ययो मिऽयाज्ञानमतद्रु प प्रतिष्ठम्

अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा मिथ्या ज्ञान विपर्यय है। किसी भी वस्तु के असली स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना–यह विपरीत ज्ञान ही विपर्यय वृत्ति है–जैसे सीप में चाँदी की प्रतीति। यह वृत्ति भी यदि भोगों में वैराग्य उत्पन्न करने वाली और योग मार्ग में श्रद्धा–उत्साह बढ़ाने वाली हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

जिन इन्द्रियों आदि के द्वारा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हीं से विपरीत ज्ञान भी होता है। यह मिथ्या ज्ञान भी कभी–कभी भोगों में वैराग्य करने वाला हो जाता है। जैसे भोग पदार्थों की क्षण भंगुरता को देखकर, अनुमान करके या सुनकर उनको सर्वथा मिथ्या

मान लेना योग सिद्धान्त के अनुसार विपरीत वृत्ति है, क्योंकि वे परिवर्तनशील होने पर भी मिथ्या नहीं हैं तथापि यह मान्यता भोगों में वैराग्य उत्पन्न करने वाली होने से अक्लिष्ट है।

विकल्प वृत्ति

जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान के साथ–साथ होने वाला है और जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह विकल्प है। इसी को महर्षि पतंजलि देव ने योग दर्शन में निम्न सूत्र से स्पष्ट किया है।

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः

केवल शब्द के आधार पर बिना हुए पदार्थ की कल्पना करने वाली जो चित्त की वृत्ति है, वह विकल्प वृत्ति है। यह भी यदि वैराग्य की वृद्धि में हेतु, योग साधन में श्रद्धा और उत्साह बढ़ाने वाली तथा आत्म–ज्ञान में सहायक हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

आगम प्रमाण्य जनित वृत्ति से होने वाले विशुद्ध संकल्पों के सिवा सुनी सुनायी बातों के आधार पर मनुष्य जो नाना प्रकार के व्यर्थ संकल्प करता रहता है, उन सबको विकल्प वृत्ति के ही अन्तर्गत समझना चाहिए।

विपर्यय वृत्ति में तो विद्यमान वस्तु के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होता है और विकल्प वृत्ति में अविद्यमान वस्तु की शब्द ज्ञान के आधार पर कल्पना होती है, यही विपर्यय और विकल्प का भेद है।

जैसे कोई मनुष्य सुनी सुनायी बातों के आधार पर अपनी मान्यता के अनुसार भगवान के रूप की कल्पना करके भगवान का ध्यान करता है, पर जिस स्वरूप का वह ध्यान करता है उसे न तो उसने देखा है, न वेद शास्त्र सम्मत है और न वैसा कोई भगवान का स्वरूप वास्तव में है ही, केवल कल्पना मात्र ही है। यह विकल्प वृत्ति मनुष्य को भगवान के चिन्तन में लगाने वाली होने से अक्लिष्ट है, दूसरी जो भोगों में प्रवृत्त करने वाली विकल्प वृत्तियाँ हैं, वे क्लिष्ट हैं। इसी प्रकार सभी वृत्तियों में क्लिष्ट और अक्लिष्ट का भेद समझ लेना चाहिए।

निद्रा वृत्ति

अभाव प्रत्यालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

अर्थात् अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है।

जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल मात्र ज्ञान के अभाव की ही प्रतीति होती रहती है, वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस चित्त वृत्ति के आश्रित रहता है, वह निद्रा वृत्ति है। निद्रा भी चित्त की वृत्ति विशेष है, तभी तो मनुष्य गाढ़ निद्रा से उठकर

कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ निद्रा आयी जिसमें किसी बात की कोई सुध नहीं रही। इस स्मृति वृत्ति से ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है, नहीं तो जगने पर उसकी स्मृति कैसी।

निद्रा भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की होती है। जिस निद्रा से जगने पर साधक के मन और इन्द्रियों में सात्विक भाव भर जाता है, आलस्य का नाम–निशान नहीं रहता तथा जो योग साधन में उपयोगी और आवश्यक मानी गयी है यह अक्लिष्ट में दूसरे प्रकार की निद्रा उस अवस्था में परिश्रम के अभाव का बोध कराकर विश्राम जनित सुख में आसक्ति उत्पन्न करने वाली होने से क्लिष्ट है।

जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान श्री कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है–

युक्ताहारविहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा।।

दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथा योग्य आहार–विहार करने वालों को, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वालों को और यथा योग्य सोने तथा जागने वाले को ही सिद्ध होता है।

स्मृति वृत्ति

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।।

अर्थात् अनुभव किये हुए विषय का न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।

उपर्युक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा इन चार प्रकार की वृत्तियों द्वारा अनुभव में आये हुये विषयों के जो संस्कार चित्त पर पड़े हैं, उनका पुनः किसी निमित्त को पाकर स्फुरित हो जाना ही स्मृति है। उपर्युक्त चार प्रकार की वृत्तियों के सिवा इस स्मृति वृत्ति से जो संस्कार चित्त पर पड़ते हैं, उनसे भी पुनः स्मृति वृत्ति उत्पन्न होती है। स्मृति वृत्ति भी अक्लिष्ट क्लिष्ट दोनों ही प्रकार की होती है। जिस स्मरण से मनुष्य का भोगों में वैराग्य होता है तथा जो योग साधनों में श्रद्धा और उत्साह बढ़ाने वाला एवं आत्म ज्ञान में सहायक है, वह तो अक्लिष्ट है, और जिससे भोगों में राग द्वेष बढ़ता है, वह क्लिष्ट है।

स्वप्न को कोई–कोई स्मृति वृत्ति मानते हैं, परन्तु स्वप्न में जाग्रत की भाँति सभी वृत्तियों का आविर्भाव देखा जाता है, अतः उसका किसी एक वृत्ति में अन्तर्भाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

संसार-रचना के पीछे उद्देश्य

डॉ. श्री ऋषिराम शर्मा, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलज्ञानमूर्तिं।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं।।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षीभूतं।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तम् नमामि।।

जब से गुरुदेव के चरण-कमलों का स्पर्श मिला है, तब से योग मेरे जीवन का परम-लक्ष्य बन गया है। एक ऐसा संस्कार दृढ़ीभूत हो गया है, जिसका चिन्तन, जिसका श्रवण और जिस पर वार्ता मुझे हठात् खींच लेती है। किन्तु पता नहीं किस कर्म संस्कार का प्रभाव या मेरे मन की कार्पण्यता मुझे प्रमाद के क्षेत्र में बांधे रखती है। अतः योग-साधना के नाम पर मैंने कुछ नहीं किया है, फिर भी अपनी बुद्धि, अपनी श्रद्धा तथा अपने मन की धारणा के अनुसार शास्त्रों के विचारों को आपके समक्ष रख रहा हूँ। आशा है कि योग-जिज्ञासु मेरी निजी कमियों पर ध्यान न देकर योग के शास्त्र सम्मत रहस्यों को समझने तथा मनन करने में आनन्द लेंगे।

मानव-जीवन हमें ईश्वर की अमूल्य देन है, क्योंकि मानव-बुद्धि ही इस संसार के रहस्यों को जानने में समर्थ है। यह संसार कर्म-विपाक के परिणामस्वरूप मिला है। हम दुःख भोगते हैं, इसका दोषी ईश्वर नहीं, अपितु हमारे स्वयं के पाप-कर्म हैं। शास्त्र का स्पष्ट सिद्धान्त है कि जीवों के पाप-कर्म का भुगतान दुःख के रूप में होता है और पुण्य कर्म का भुगतान सुख के रूप में होता है। जीव सुख चाहता है, किन्तु पुण्य कर्म करने में उसकी कोई रुचि नहीं और दुःख भोगने को तैयार नहीं, परन्तु दुर्वासनाओं के वशीभूत निरन्तर पाप-कर्म में यत्नपूर्वक रुचि रखता है, यही जीव के भाग्य की विडम्बना है। प्रायः लोग कहते हैं कि ईश्वर ने जीवों को माया के बन्धन में बांधकर दुःख भोगने के लिए इस संसार की रचना क्यों की है? वह लोग इस रहस्य को समझने की कोशिश नहीं करते कि ईश्वर ने तो जीवों के दोनों हाथों में लड्डू दे दिए हैं। जैसा मन चाहे वैसा खाओ। किन्तु प्रकृति का एक अटूट नियम है कि परस्पर विरोधी चीजें साथ-साथ नहीं रहतीं। जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं, जहाँ दिन है, वहाँ रात नहीं। जहाँ भोग है, वहाँ योग नहीं। अतः दोनों लड्डू का भरपूर आनन्द एक साथ नहीं। यदि भोगरूपी लड्डू के खाने में रुचि है, तो योग-समाधि वाला लड्डू गायब। आचार्य रजनीश का "भोग से समाधि" वाला सिद्धान्त शास्त्र-विरुद्ध एवं

भोगाकृष्ट बुद्धि का विलास मात्र है तथा आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कराने में उसका कोई योगदान नहीं हो सकता है। अतः मैं आपको शास्त्रीय सिद्धान्त समझाना चाहता हूँ, जिससे कपोल–कल्पित बातें बुद्धि को कलुषित न करें। भगवान् पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है कि–

प्रकाशस्थितिक्रियाशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थात् त्रिगुणात्मक दृश्य–जगत की रचना के पीछे दो उद्देश्य हैं–एक है भोग देना और दूसरा है मोक्ष–देना। जब जीव बहिर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा इस दृश्य–जगत को देखता है तो यह भोग देता है और जब अन्तर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा इस दृश्य–जगत का अनुभव किया जाता है, तब यही दृश्य–जगत योग–विद्या के प्रकाश से मोक्षदाता बन जाता है। उपनिषद् भी इसकी पुष्टि करते हैं कि–

पराञ्चिखानि वितृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् परान्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमिच्छत्, आवृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है। अतः इनका स्वभाव बाह्य–जगत का अनुभव करना है। बहिर्मुखी इन्द्रियाँ बुद्धि के आवरण में कार्य करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि बोधात्मक आत्मा–जीवात्मा की उपाधि धारण कर कर्ता–भोक्तापन के आवरण में विषयक सुख–दुःख का अनुभव करती है। कर्मफल के परिणामस्वरूप स्थूल भोग उपस्थित होता है और बहिर्मुखी इन्द्रियों की वृत्तियों का उससे सम्बन्ध होता है और सुख–दुःख की अनुभूति होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के पीछे केवल कर्म परिणाम है। कर्म का सिद्धान्त है कि–

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

अर्थात् अच्छे–बुरे की भावना से युक्त कर्मों का फल निश्चय ही भोगना पड़ता है। यह दूसरी है कि बहिर्मुखी जीवों को स्थूल में चिरकाल तक भोगना पड़ता है और अन्तर्मुखी जीव सूक्ष्म में अल्पकाल में भुगतान कर लेते हैं। इस सुख–दुःख के भुगतान में एक बात विचारणीय है कि–

कन्डूयमानेन यत् कन्डूसुखं, स्यात् तत् किं भवेत् सुखम्।
पश्चात् यत्र महापीड़ा, तथा वैषयिकं सुखम्।।

अर्थात् जिस प्रकार खुजली के रोग में खुजाने से सुख की अनुभूति होती है और अधिकाधिक खुजाने की प्रवृत्ति बनी रहती है किन्तु खुजाने के बाद रोग तथा कष्ट दोनों ही बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार बहिर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा विषय–भोग में सुख की अनुभूति होती है, जिसे आनन्दाभास कहते हैं और सुख की वासना अधिकाधिक विषय की ओर मन को

प्रवृत्त करती है, किन्तु परिणामस्वरूप भवरोग एवं नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि–

परिणाम तापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च सर्व दुःखमेव विवेकिनः।

अर्थात् विवेक दृष्टि से देखा जाये तो बहिर्मुखी इन्द्रियों के सभी कार्य–व्यापार में दुःख ही दुःख भरा है। जब जीवात्मा विषय–सुख का भोग करता है, तो उसके परिणामस्वरूप विकारों की उत्पत्ति हो जाती है, जिनकी परिणति घोर दुःख तथा अज्ञानान्धकार में भटकने में होती है। प्रकृति के नियमानुसार अनेकानेक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट हठात् आते हैं और इन परिणामी एवं ताप दुःखों से कर्त्ता–भोक्तापन के आवरण के कारण कर्म संस्कार कर्माशय बनाते जाते हैं जो भावी योनियों के बीजों का भण्डार है। इसके अतिरिक्त सभी जीव राग–द्वेष की मदिरा के प्रभाव में गुणात्मक वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण कलह–क्लेश में आक्रान्त रहते हैं। अतः सुखार्थी जीव सर्वत्र दुःखों के घनघोर काले मेघों से घिरा है और प्यासे मृग की भांति मृग–तृष्णा में फँसा है। यह सब बहिर्मुखी इन्द्रियों की करामात है जोकि संसार का भोगार्थक स्वरूप है।

इस संसार–रचना का दूसरा पक्ष है अपवर्ग, यही मोक्ष का दाता है। जब शास्त्रों का मनन करते रहने से, महापुरुषों के सत्संग से उनकी अमृतवर्षिणी वाणी के उपदेशों को सुनने तथा जप–स्वाध्याय के प्रभाव से बुद्धि बहिर्मुखी संसार की निस्सारता को समझ जाती है, तब जीव गुरु–चरणों का आश्रय लेता है, जहाँ उसके भवसागर में डूबते हुए भयाक्रान्त मन को विश्राम मिलता है। गुरु–सेवा से मन का मलावरण हटता है और वह गुरु के आदेश से गुरु–मन्त्र की जप–साधना करता है। इस जप–साधना के प्रभाव से उसकी धारणा–शक्ति विकसित होती है और सतोगुणी प्रकाश का सूर्योदय होता है, जिससे उसका अन्तर्मुखी जगत प्रकाशित होता है। मनोवृत्ति अन्तर्मुखी होकर दृश्य–जगत के भोग–दृश्यों से हटने लगती है और मन में वैराग्य की किरण प्रवेश करती है और गुरु–कृपा से शनैः शनैः एक अलौकिक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है कि–

स्वाध्यात् योगमासीत, योगात् स्वाध्यामामनेत्।
स्वाध्याय योगसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय करते–करते सत्त्व बुद्धि से मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती जाती हैं और अन्तर्जगत की अनुभूतियाँ आरम्भ हो जाती हैं जिससे जीव का योग में प्रवेश हो जाता है। योग में प्रवेश हो जाने के बाद ध्यान शक्ति का विकास होने लगता है जो पूर्व जन्मों के पापसमूहों को नष्ट करने में सक्षम् है। इसके परिणामस्वरूप मन को अन्तरानुभूतियों का रस मिलने से वह जपस्वाध्याय में सहज प्रवृत होने लगता है। इस प्रकार स्वाध्याय से योग और

योग से स्वाध्याय दोनों एक-दूसरे को पुष्ट करते जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप रजोगुण तथा तमोगुण की कीचड़ के साफ हो जाने पर शुद्ध जल के समान स्वच्छ सतोगुण की भूमिका बनती है जिसमें परमात्मा का बिम्ब स्पष्ट दिखाई देने लगता है। यही अपवर्ग की ओर ले जाता है, क्योंकि जगदात्मा भगवान कृष्ण की वाणी है कि-

तेषां नित्ययुक्तानां, भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं, येन मामुपयान्ति ते।।

अर्थात् जो जीव निरन्तर युक्तमन से मेरा प्रेमपूरित हृदय से भजन करता है यानि जिसका मन प्रेमावेश में एकाग्र हो गया है, जिसका अन्तःकरण स्वाध्याय तथा योग की साधना से तमोगुण तथा रजोगुण के मलविकारों से परिमार्जित हो गया है, जिसकी बुद्धि माया मोह के आवरण से मुक्त होकर वैराग्य सम्पन्न हो गई है। और जिसका पाप-पुंज गुरुकृपा से भस्म हो गया है, उसे ही मैं समाधि योग प्रदान करता हैं जिसके द्वारा वह मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है और तीनों बन्धनों को काटकर अपवर्ग के लक्ष्य को पा जाता है।

सूक्ष्म में निष्कर्ष यह निकला कि वह दृश्य जगत बहिर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा भोगरूप प्रकट होता है और अन्तर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा सत्वाकाश में अपवर्ग रूप प्रकट होता है।

मन में जैसी धारणा रहती है, मन जीव को उसी ओर खींच लेता है, क्योंकि-

यादृशा वासनामूला, वर्तते जीवसंगिनी।
तादृशं वहन्ते जन्तुः, कृत्याकृत्यविभ्रमम्।।

अर्थात् कर्माशय के माध्यम से जीव की बुद्धि पर वासना का आभास निरन्तर पड़ता रहता है जिसके कारण मन उसी आभास से रंगित हुआ वृत्तियों की किरणों पर सवार होकर दृश्य जगत् में भ्रमण करता है और परिणामस्वरूप जीव अनेकानेक योनियों को धारण कर पाप-पुण्य के कर्मों का भोग भोगता है। अतः विचारणीय विषय यही है कि जब तुम ही भोग की दलदल में फंसने के लिए लालायित हो तो कौन तुम्हारी सहायता करे? यदि बन्दर ने छोटे मुख वाले बर्तन में लोभवश हाथ डालकर भोगरूपी दानों से मुट्ठियाँ भर ली हैं और वह अपनी मुट्ठी खोलने के लिए राजी नहीं है तो कोई उसे उस बन्धन से कैसे छुटाये। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि-

''इच्छामात्र को बन्धः, तत्त्यागोः मोक्ष उच्यते''।

अर्थात् जीव अपनी इच्छा से मायिक बन्धन में बँधा है, क्योंकि वह भगवान से भी सच्चे मन से मोक्ष की इच्छा नहीं करता, अपितु भोग प्राप्ति की ही प्रार्थना करता है, वह तो परम

प्रभु करुणार्णव हैं जो भोग देने के साथ शनैः उसके हृदय में अपने लिए प्रेम उत्पन्न कर देते हैं और प्रेमाकर्षण के वशीभूत सकाम उपासना ही उसे अनजाने में अपवर्ग के पथ पर ले आती है। जगदात्मा श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि–

न मां दुष्कृतिनो मूढाः, प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना, आसुरं भावमाश्रिताः।।
चतुर्विधा भजन्ते मां, जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त, एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।
उदाराः सर्व एवैते, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

–गीता 7/15–16–17–18

अर्थात् जो जीव हठवशात् दुष्कर्मों में लगे हुए हैं, दूसरे जीवों को सताना ही जिनका स्वभाव बन गया है, जो रागद्वेष के मायावरण में आसुरी सम्पदाओं की मदिरा पीकर विमोहित हो गये हैं, ऐसे जीव अपवर्ग के पथ से बहुत दूर चले जाते हैं और उनके मन मेरे से पूर्णरूपेण विमुख हैं। ऐसे जीवों को तो अधमयोनियों में डालने के अतिरिक्त मेरे पास उनके कल्याण का कोई उपाय ही नहीं किन्तु जो जीव हठात् दुष्कर्मों में न लगकर पुण्य कर्म करते रहते हैं और अपनी इच्छापूर्ति के लिए मेरा भजन करते हैं ऐसे जीवों की चार श्रेणियाँ हैं, पहली वह जो पूर्वकृत पापकर्म के फलस्वरूप बहुत दुखी हैं और अपने दुख से मुक्ति पाने के लिए मेरी ओर आशाभरी दृष्टि से देखते हैं, दूसरे वह जो मायिक बन्धन को समझ गये हैं, भोगों की मृगतृष्णा से परेशान हो गये हैं तथा मुझे पाने की इच्छा बलवती हो गयी है।

तीसरे वह जो धन सम्पत्ति की कामना से मेरी उपासना करते हैं और चतुर्थ वह जो चिद्–जड़ ग्रन्थि का भेदन कर संशय रहित हो गये हैं और यथार्थज्ञान से कर्माशय को भस्म कर केवल मेरी भक्ति करते हैं। इनमें चतुर्थ श्रेणी का ज्ञानी तो मेरा ही स्वरूप है और मुझे अत्यन्त प्रिय है, किन्तु दूसरी तीनों श्रेणियों के जीव भी श्रद्धायुक्त होने के करण कल्याण के भागी हैं और अन्ततोगत्वा अपवर्गपथ पर आ ही जाते हैं।

अतः यदि तुम भवसागर को पार करना चाहते हो, यदि इस दृश्य जगत की भोगरूपी कंटीली झाड़ियों के भयावह जंगल में भटकने से मुक्ति पाना चाहते हो, यदि जन्म–मरण के अवर्णनीय दुख से छुटकारा पाना चाहते हो, यदि अतीन्द्रीय परम सुख को पाकर निहाल

होना चाहते हो, तो इसका एकमात्र उपाय है आत्म-निवेदन। जब जीव अपने को योग-योगेश्वर महाप्रभु के चरणों में पूर्णरूपेण अर्पण कर देता है तो उसकी साधना की उसकी योग भूमिकाओं में प्रगति की जिम्मेदारी स्वयं महाप्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं, भगवान कृष्ण स्वयं अपने मुखारविन्द से इसकी पुष्टि करते हैं कि-

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्परा।
अनन्येनव योगेन, मा ध्यान्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ, मय्यावेशित चेतसाम्।।

-गीता 12 / 6-7

अर्थात् जो जीव अपने सभी मानसिक एवं शारीरिक कार्य-कलापों को मेरे भरोसे छोड़कर केवल मुझी को जीवन का परम लक्ष्य मान लेते हैं और अव्यभिचारिणी भक्ति से मेरा चिन्तन करते हैं। मेरी ही सब प्रकार से उपासना करते हैं, उन सरल स्वभाव वाले जीवों को भवसागर से पार उतारने के लिए मैं तुरन्त नौका बन जाता हूँ, यानी उनके हृदय में योग-चक्र चला देता हूँ जिससे अलौकिक प्रकाश का उदय होता है और अविद्या का अन्धकार नष्ट होता जाता है और अपवर्गरूपी लक्ष्य का राजमार्ग दिखाई देने लगता है। विशेष कर ईश्वर ने मानव सृष्टि इसी उद्देश्य से बनाई है। जो इस उद्देश्य को न समझे, वह आत्म हत्यारा है।

शक्रिचालिनी मुद्रा

शक्तिचालन मुद्रेय सर्वशक्ति प्रदायिनी।।

सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथों से दोनों पैरों की एड़ियों को मूलाधार में जोर से दबावें, ठोड़ी हृदय में लगाकर जोर से श्वास-प्रश्वास करें ताकि पेट की अंतड़ियों के दबाव व ढीला होने का प्रभाव मणिपुर-चक्र पर पड़े और उसी के साथ गुदा संकोचन-खोलन करे, इससे मूलाधार की अपान वायु की टक्कर मणिपुर की प्राणवायु पर पड़ने से सुप्त कुण्डलिनी जागृत होती है। इसका अभ्यास योगी को जितेन्द्रिय होकर लवण, खट्टा, तीता वर्जित परिमित भोजन अथवा दुग्धपान करके काम, क्रोध, मोह, अहंकार रहित, त्यागवान होकर प्रतिदिन कम से कम चार घड़ीपर्यन्त करने से सुप्त कुण्डलिनी के चलायमान होने में सहायता मिलती है। सद्गुरु का निर्देश भी लेते रहें।

मन का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्वरूप

(श्री चन्द्रहास जी शर्मा, आचार्य एम. ए., एम-एड.)

योग सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहीं चित्त से व्यवहार है उसी वस्तु का मन से कथन है। प्राणायाम का फल बताते हुए भगवान पतंजलि कहते हैं-

धारणासु च योग्यता मनसः। *(यो. द. सा. पा. सूत्र 5)*

अर्थात् प्राणायाम से मन में धारणा-ध्यान की योग्यता हो जाती है। मन और प्राण का घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि प्राण रोक लिये जायें तो मन रुक जाता है और यदि मन रोक लिया जाये तो प्राण स्वतः रुक जाते हैं। मन और प्राणों को रोक लेने से सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण 6/3/1/13 में **मनो वै संविता** तथा **प्राणाधियः** लिखा है। इसके अनुसार मन और प्राणों को रोकना आवश्यक है तभी प्रकाश हो सकता है। चित्त तथा मन समानार्थी है-इसकी सिद्धि के लिए नीचे कुछ सूत्र दिये जा रहे हैं-

वीत राग विषयं वा चित्तम् *(1/37)*

वीतराग महात्माओं का चिन्तन करने से चित्त स्थिर हो जाता है।

विषयवती वा प्रवृत्ति सत्पन्नामनसः स्थिति निबन्धनी *(1/35)*

भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के स्थानों पर संयम करने से मन स्थिर होता है।

मैत्री करुणः मुदिता पेक्षाणा सुरा दु:ख पुण्यापुण्य विषयाणी भावनातश्चित प्रसादनम्। *(1/63)*

सुखियों से मैत्री, दुःखियों पर करुणा, पुण्यशीलों पर प्रसन्नता तथा पापियों पर उपेक्षा की भावना से चित्त की विमलता होती है।

स्व विषया संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुसार इमेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। *(सा. पा. 7/55)*

इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयो दयौ, चित्तस्य समाधि परिणामः *(11/117)*

चित्त की सर्वार्थता का क्षय होना और एकाग्रता का उदय होना समाधि-परिणाम है।

शान्तोदिती तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः *(118/12)*

जब चित्त किसी वस्तु पर ऐसा लग जाये कि पता ही न लगे कि समय बीता है, तब चित्त एकाग्र होता है।

'हृदये चित्त संवित्। (हृदय से संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है) यहाँ विचारणीय है कि प्राण और चित्त हृदय को केन्द्र बनाकर समस्त शरीर में व्याप्त हैं, अतः हृदय ही मन

का अधिष्ठान है। किसी का मन जीतने के लिए उसका हृदय जीतना चाहिये।

बन्धकारण शैथिल्यात्प्रचार संवेदनाच्च–चित्तस्य पर शरीरावेश:। *(143/37)*

चित्त के बन्धन का कारण ढीला होने पर तथा प्रचार = निकलने की युक्ति ज्ञात होने पर चित्त दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। इस सूत्र से यह प्रमाणित होता है कि चित्त (मन) मरणोपरान्त कर्मबन्धन के कारण किसी शरीर में बँधता है।

ततो मनोजवित्वं विकरण भाव: प्रधान जयश्च। *(153/47)*

तब मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रकृति पर विजय प्राप्त होती है।

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात्। *(41)*

जैसे–जैसे संकल्प होते हैं वैसे–वैसे शरीर बनते चले जाते हैं।

कैवल्य पादप्रवृत्ति भेदे प्रयोजकं चित्तमेक मनेकषाम् *(5)*

एक ही चित्त प्रवृत्तियाँ भिन्न–भिन्न होने से ये अनेक प्रकार का हो जाता है।

वस्तुसाम्ये चित्त भेदात्तयो विभिक्त: पंथा: *(175/15)*

अर्थात् वस्तु के एक होने पर चित्त के भेद से वस्तु और चित्त का मार्ग विभक्त हो जाता है। जैसे नारी–नारीत्व के कारण एक ही है किन्तु पति के चित्त में उसका रूप अन्य है और भाई, माता, पिता के चित्त में अन्य–अन्य प्रकार का उसका रूप होता है। एक विरक्त पुरुष के चित्त में उसका नारीत्व भी शेष नहीं रहता। इस प्रकार इस सूत्र में यह चित्त 'जिसकी रही भावना जैसी, तिन्ह प्रभु मूरति देखी तैसी' का जहाँ निरूपण है वहाँ मन तथा वस्तु का भेद भी स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। पाश्चात्य दर्शन Matter तथा Mind के बारे में किसी प्रकार के विचार निश्चित करता है।

योगदर्शन वस्तु भेद से चित्त की अनेकता स्वीकार करता है। जब चित्त एक वस्तु को छोड़कर दूसरी वस्तु में लग जाता है तो उस वस्तु का अभाव भी नहीं होता और न दूसरे चित्त को उसकी अप्रतीति होती है। देखिये–

न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्याद्।

अर्थात् वस्तु एक चित्त के अधीन भी नहीं होती जब वस्तु में प्रमाण (चित्त) का सम्बन्ध न हो तब क्या हो? जब चित्त का सम्बन्ध जिस वस्तु के साथ हो जाता है तभी वह वस्तु ज्ञात हो जाती है जब सम्बन्ध नहीं रहता तभी वह वस्तु अज्ञात हो जाती है। चित्त की वृत्तियाँ अपरिणामी जीवात्मा को सदा ज्ञात रहती हैं। अत: सिद्ध होता है कि चित्त स्वत:–प्रकाशक नहीं है। पुरुष के प्रकाश से वह प्रकाशित होता है।

''न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।''

यह मन आत्मा नहीं है क्योंकि एक साथ मन और आत्मा का ज्ञान विद्यमान नहीं रह सकता। योग सूत्र इसका साक्ष्य है।

''एक समये चोभयानवधारणम्।''

एक समय में चित्त और आत्मा दोनो का ज्ञान नहीं होता। योग–दर्शन में मन को परिणामी तथा परतः प्रकाशित माना है। चित्त एक दृश्य पदार्थ की भित्ति है। आत्मा को चित्ताकारापन्न होने पर चित्त का ज्ञान होता है। जैसे बिल्लौर मणि के पास जिस रंग का भी पुष्प रखें वैसा ही वह प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार चेतन–आत्मा के पास जब जड़ मन का सन्निधान होता है तब आत्मा मन जैसा भासने लगता है और आत्मशक्ति मनोबल के रूप में आशीर्वाद, शाप, वरदान के रूप में नाना कार्य करने लगती है। आत्मप्रकाश युक्त मन ऋद्धि–सिद्धिमय हो जाता है और विषयों का ग्रहण कर सकता है।

मन को योग–दर्शन में संहत्यकारी कहा गया है। चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी पदार्थ है, जो अकेला कुछ न कर सके। कार्य करने के लिए जिसे दूसरों से संयुक्त होना पड़े, उसे संहत्यकारी कहते हैं। संहत्यकारी का अपना कोई प्रयोजन नहीं है, वह दूसरों के लिए होता है। जैसे घड़ा अनेक अवयवों से मिलकर बना है। घड़े का अपना कोई प्रयोजन नहीं है, वह दूसरों के लिये है। इसी भांति चित्त सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण का संघात है। वह इन्द्रियों के संयोग से कार्य करता है अतः चित्त परार्थ पुरुष के लिये है। यद्यपि चित्त में अनेक वासनायें पलती हैं पर वे परार्थ ही हैं। अतः आत्म–समर्पण या प्रपत्तिभाव भावयोग की पराकाष्ठा है जिसमें तन्मय होकर भक्त गा उठता है 'जो कुछ भले–बुरे प्रभु हम तेरे'। मन और आत्मा का भिन्न अस्तित्व प्रकट होने पर मन विवेकोन्मुख होने लगता है और कैवल्य प्राप्ति का अभिलाषी होने लगता है। जब–जब विवेक शिथिल होने लगता है तब संस्कारों के कारण दूसरे अविवेक युक्त प्रत्यय होने लगते हैं यही योग–भ्रष्ट स्थिति है। आगे चलकर सर्व विवेक ख्याति द्वारा मेघ समाधि होती है जिसे श्रीमद्भगवद्गीता में–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो ऽचलेन्द्रियेः

कहा गया है। इसके द्वारा मन की दीवार टूट जाती है और फूटा कुंभ जल जलहि समाना वाली स्थिति हो जाती है और समस्त ज्ञान सिमटकर अल्प प्रतीत होता है।

यावन्यर्थ उदपाने सर्वतः सलुप्तोदके
तावान् सर्वेषु वेद्रेषु ब्राह्मण्स्य विजानतः

अर्थात् ब्रह्म में स्थित योगी को वेदादि ज्ञान विज्ञान से विशेष प्रयोजन नहीं रहता। जैसे समुद्र पा जाने पर छोटे गड्डे का अल्प प्रयोजन हो जाता है।

वेदों में मन का स्वरूप–आत्मशक्ति का आविर्भाव अन्तःकरण और बहि–करणों के माध्यम से होता है। कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ बहिःकरण है तथा इच्छा, तर्क तथा अहंकृति का साधन यंत्र मन अन्तःकरण है। यथा–

येन कर्माण्यपसो मनीषिनो यज्ञेकृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्व यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

भावार्थ—यत् (जो) प्रजानाम् (प्रजाओं का—प्राणियों का) अन्तः (अन्तकरणरूप) मनः (मन) अपूर्वम्—(अद्‌भुत) यक्षम् (पूज्या) ग्राह्य वस्तु है और येन (जिस अन्त:करण मन से) मनीषिन (विवेकी जन यज्ञे (देवपूजा, संगति करण, दानादि अवसरों में) कर्माणि (कर्मों को) तथा धीराः (कर्त्तव्यपरायण) विदथेषु—(योगक्षेम की प्राप्ति वाले अवसरों में) अपसः (कर्मों को) कृण्वन्ति (करते हैं) तत् (वह) मे (मेरा अन्तःकरण रूप मन) शिवसंकल्पम् (कल्याणकारी चिन्तनवाला) अस्तु (हो)।

अर्थात् सामान्य या विशेष सभी कर्म प्रथम मन की प्रयोगशाला में किये जाते हैं उसके बाद स्थूल रूप से प्रत्यक्ष गोचर होते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—

मन्यनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तद् कर्मणा करोति।

अर्थात् मनुष्य जिसका मन से ध्यान करता है और जो वाणी से कहता है उसे ही कार्यरूप में परिणत करता है। इसलिये बाह्य जीवन की पवित्रता के लिए आन्तरिक पवित्रता पर जोर दिया जाता है। मनसा, वाचा, कर्मणा किया गया कार्य पूर्ण समझा जाता है। मन में सद्‌भाव का चिन्तन करने से तद्‌रूप प्रतिष्ठा हो जाती है और असत् का चिन्तन करने से आदमी बुरा ही बन जाता है। यही बात किसी अंग्रेज विचारक ने कहा है।

As you think, so you become.

उपनिषदों ने मन को ही अवान्तर सूक्ष्म वृत्ति भेद के कारण बुद्धि, चित्त, अहंकार नामों से अभिहित किया है। वेद में इन चारों को मन कहकर अलग—अलग नामों से भी अभिहित किया है। कहीं—कहीं इन चारों के लिए —प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय से मन ही नाम दिया है। देखिये—

'त्रिषु जातस्य मनांसि।' *(अथ. 8/2/21)*

मनसे चेतसे, धिय आकूतय उतचित्तये

मत्यै श्रुताय चक्षसे। विधेम हविषा वयम्। *(अथर्व. 6/41/1)*

भावार्थ—मनसे = मन के लिए, चेतसे = चित्त के लिए, धिय = बुद्धि के लिए, आकूतय = अहंकार के लिए, उत = तथा, श्रुताय = श्रवण के लिए, मत्यै = मनन के लिए, चित्तये = चित्त अर्थात् निदिध्यासन के लिए, चक्षसे = साक्षात्कार के लिए, हविषा = आत्मभाव से, विधेय = आचरण करते हैं।

मन बुद्धि, चित्त तथा अहंकार में प्रत्येक के दो—दो धर्म हैं। मन में 'अस्तु कामः संकल्पः नास्तु कामो विकल्पः, अर्थात् प्राप्ति की इच्छा तथा परिहार की इच्छा है।

बुद्धि में सन्देह तथा निश्चय, चित्त में गत तथा आगत, स्मरण, अहंकार में अहंभाव तथा समभाव की प्रवृत्ति होती है। कार्यभेद से मन ही चारों रूपों में हो जाता है। जिस प्रकार कि समस्त शरीर तत्त्व रूप से एक ही है फिर भी हाथ चल रहा है, पैर चल रहे हैं इत्यादि कार्यभेद से भिन्न—भिन्न अवयवों का व्यवहार होता है।

मन के विशेष धर्म—बाह्य इन्द्रियों—नेत्र नासिका कर्ण आदि के—देखना, सूँघना, सुनना इत्यादि धर्मों के समान ही मन का भी विशेष धर्म है। कोई भी बाह्येन्द्रिय मन की शक्ति के बिना अपना कार्य नहीं करती। संकल्प—विकल्प, सन्देह—निश्चय, भूत—भविष्य का स्मरण अपने—पराये का भाव मन के ही धर्म हैं।

मन को केनोपनिषद् में विद्युत के समान द्रुत संचारी कहा गया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। *(1/71/9)*

विद्युत के समान ही अपने विषय पर क्षण भर में मन गिर पड़ता है। ऋग्वेद के मंत्र में कहा गया है कि मन क्षण भर में कहीं का कहीं पहुँच जाता है।

मनो न योऽध्वनः सद्यएति।

सुप्तावस्था में मन बाह्येन्द्रियों के बिना भी बड़े—बड़े कार्य कर लेता है। जाग्रतावस्था में वह इन्द्रियों को प्रेरित करता रहता है। घर पर टेलीफून हो तो बैठे—बैठे ही दुनिया के दूरस्थ देश से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। उसी प्रकार विद्युत की भाँति प्रवाहित होने वाले मन का रहस्य समझ लेने पर प्रार्थना द्वारा ईश्वर से बात की जा सकती है और Telepathy के द्वारा अन्य व्यक्तियों के मन को प्रेरित किया जा सकता है।

यहाँ मन के सन्दर्भ में एक प्रासंगिक बात कहने को मन में आकुलता और हो रही है। वह यह है कि इतिहास के काल क्रम पर दृष्टिपात करें तो एक सामान्य बात सामने आती है। पहले आवागमन तथा संचार के साधन आज की भाँति सर्व सुलभ नहीं थे फिर भी यह देखने में आता है कि एक देश में जो चिन्तन हुआ वही उसी समय दूसरे देश में भी हुआ। चिन्तन की समकालीनता के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। संसार के सभी व्यक्तियों के मन सत्व, रज तम तथा उसके अवान्तर अनेक भेदों के स्तर पर चिन्तन करते रहते हैं। वह चिन्तन धारा शोर्ट व मीडियम Wave की भाँति एक प्रवाह में आकाश में प्रवाहित होती रहती है। उसी स्तर पर जितने व्यक्तियों के मन होते हैं वे उसको ग्रहण कर लेते हैं और उनका चिन्तन तदनुरूप चिन्तन से प्रभावित हो जाता है। मन का ट्रांसमीटर जितने किलो साइकिल्स प्रति सेकण्ड से अपने विचार प्रसारित करने की क्षमता रखता है उतनी ही दूरी तक वे विचार ग्रहण कर लिए जाते हैं। मन की तुलना रेडियो और टेलीविजन से की जा सकती है। यदि श्री गुरुदेव की हृदय में प्रेरणा हुई तो विस्तार से प्रयोगात्मक ढंग से इस सिद्धान्त की चर्चा फिर कभी करूँगा। अभी पाठक इस प्रसंग को क्षेपक मानकर सन्तोष कर लें।

मन की ज्योति जलती रहे तो अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। अथर्ववेद के 12/4/30 मंत्र में मन के इसी धर्म को 'मनसा संकल्पयति' इस वाक्य से कहा गया है। मन का संकल्प—विकल्पात्मक धर्म के अतिरिक्त अन्वेषण धर्म भी है जिसे बुद्धि का धर्म कहते हैं।

योगासन और उनसे लाभ

द्वितीय वकासन

विधि—एक वकासन हम पहले लिख आये हैं। इसके अतिरिक्त उपरोक्त गर्भासन लगा करके दोनों हाथों पर खड़े हो जाने से भी वकासन की आकृति बन जाती है जिस प्रकार से बगुला कहीं–कहीं तालाबों के किनारे दोनों पैरों से खड़ा रहा करता है वहीं आकृति इस आसन के करने से वकासन की आ जाती है। उपरोक्त लिखी विधि के अनुसार अपने दोनों पैरों को गर्दन पर चढ़ाकर दोनों बाजुओं के बल से खड़ा हो जाये और सामने देखें, इसी का नाम वकासन है।

समय—शनैः शनैः करना चाहिए।

लाभ—इसके लाभ गर्भासन की ही तरह से पूर्ण रूपेण हैं। अत्यन्त अग्नि वृद्धिकर है। वात नाशक और सब प्रकार से स्वास्थ्यप्रद है। इस आसन में खड़े हो जाने पर दोनों हाथों के बल से थोड़ा–थोड़ा आगे चला भी जा सकता है। इसको वकगति कहते हैं। इसके करने से दोनों बाजुओं में वृद्धि होती है। शेष सब लाभ उसी प्रकार हैं जो गर्भासन में लिखे गये हैं।

ग्रीवापादूर्ध्वावलोकासन

विधि—इस आसन के करने से पहिले समसूत्रता से बिल्कुल सीधे खड़े हो जायें, उसके बाद अपने एक पैर को मोड़कर दोनों हाथों से पकड़कर गर्दन की ओर धीरे–धीरे ले जाकर गर्दन पर रख लें। दूसरा पैर जिस पर खड़े हों उस पर उसी प्रकार सीधे खड़े रहें, गर्दन, पर पैर रख लेने पर जितना भी हो सके अपने आपको सीधा रखने की चेष्टा करो किन्तु यह चेष्टा इस ढंग की होनी चाहिए कि सहसा किसी अंग पर यकायक अधिक तनाव न पड़ जाये। इस प्रकार यह रूपक बन जाने के बाद अपनी दृष्टि थोड़ी ऊँची उठाकर ऊपर की ओर देखने की चेष्टा करें इसी का ग्रीवापाद ऊर्ध्वावलोकासन है।

समय—शनैः शनैः जिससे किसी भी अंग पर एक दम कोई गहरा हानिप्रद प्रभाव न पड़े वैसे ही 20 सेकण्डों से शुरू करके दो मिनट तक ले जायें।

लाभ—इसके भी लाभ बिल्कुल पर्य्यकासन की तरह ही हैं किन्तु उसकी अपेक्षा क्योंकि इसका तनाव अधिक होता है।

ग्रीवापादनमनासन

विधि—इस आसन में व ग्रीवापादूर्ध्वव लोकासन में कोई भी विशेष अन्तर नहीं है। केवल मात्र इतना ही अन्तर है कि उस आसन को करके ऊर्ध्वावलोकन करने की विधि है और इसमें एक पैर गर्दन पर पूरी तरह जमाकर रख लेने के बाद ऊर्ध्वावलोकन की अपेक्षा नमन मुद्रा से हाथ जोड़कर सीधे खड़ा रहना चाहिए। इसी का नाम ग्रीवापाद नमनासन है, जिस विधि से अपने पैर को धीरे गर्दन चढ़ाओ उसी प्रकार धीरे–धीरे उतारना भी चाहिए, तभी उत्तम रहेगा।

समय—अभ्यास शनैः शनैः करना ही हितप्रद रहेगा।

लाभ—लाभ बिल्कुल ग्रीवापादूर्ध्वावलोकन की ही तरह है।

नोट—इन दोनों आसनों में यह ख्याल अवश्य रखना चाहिए कि दोनों पैरों को बदल–बदल कर दोनों तरफ से करना चाहिये।

वृश्चिकासन

विधि—इस आसन के प्रथमाभ्यास में किसी दीवार का अवलम्ब अवश्य ले लेना चाहिए। धीरे–धीरे अभ्यस्त हो जाने के बाद बिना दीवार के भी यह आसन सहूलियत से हो जाया करेगा। पहिले–पहिले किसी दीवार के सहारे अपने दोनों हाथों को कोहनियों तक जमीन में जमा करके अपने सिर को जमीन में जमे हुए हाथों पर शीर्षासन के ढंग से रख लें व पीछे से पैरों को उल्टा कर धीरे–धीरे सिर के ऊपर दोनों पाद तलों को रख देने की चेष्टा करें, नीचे करतल पृष्ठ पर सिर रखा हुआ है उसको धीरे–धीरे ऊपर की ओर उठायें व बिच्छू की आकृति से खड़े रहें। इसका नाम वृश्चिकासन है।

समय—अभ्यास शनैः शनैः आधे मिनट से रखें व दो मिनट तक बढ़ा लें।

लाभ—दोनों हाथ के बाजुओं के लिये पुष्टिकर उदर रोगों के लिये लाभदायक है, आँतें शुद्ध कर मल विसर्जनी नाड़ियों को बल देता है। कोष्ठ बद्धता को हटा कर अग्निवर्धक है।

करतलाधारित वृश्चिकासन

विधि—वृश्चिकासन एवं करतल धारित वृश्चिकासन में बहुत कम अन्तर है, करतला–धारित वृश्चिकासन यथा नाम तथा गुण के अनुसार केवल मात्र करतलों पर ही आधारित रहता है। किसी दीवार के सहारे अपने हाथों के तल भाग अर्थात् पंजों को जमाकर व अपने पैरों को साहस के साथ उठाकर दीवार पर लगा दें, उसके बाद वृश्चिकासन की ही तरह पैरों को घुटनों के पास से मोड़ कर अपने सिर पर अपने पादतल लगाने का प्रयत्न करें।

इसी का नाम करतलाधारित वृश्चिकासन है। पहिले पहल दीवार के अवलम्ब से अभ्यास बढ़ा लें। फिर बिना ही दीवार के यह भी आसन होने लगेगा।

समय—पूर्ववत शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए।

लाभ—करतलाधारित वृश्चिकासन में एवं वृश्चिकासन में कोई विशेष अन्तर न होने के कारण गुण में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल मात्र इसमें दोनों हाथों को लाकर तलों की पुष्टि विशेष है।

मयूरासन

घरामवष्टभ्य कर द्वयेन,
तत्कर्पूर स्थापित नाभिपार्श्वः।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे,
मायूरमेवत्प्रवदन्तिपीठम्।।

विधि—साधारण भाव से उत्कटासन की विधि से बैठ जायें व अपने हाथों की कोहनियाँ को नाभि पार्श्व (अर्थात् नाभि के पास लगा लें) दोनों करतलों को जमीन में जमाकर व थोड़े से झुकाकर अपने सारे शरीर के वजन को अपने भुजदण्ड एवं कोहनियों पर उठा लें व अपने पैरों को धीरे—धीरे आकाश की ओर उठाते जायें जिससे शरीर की आकृति खड़े हुये मोर पक्षी की जैसी बन जाये तो समझ लेना चाहिए कि इसी का नाम मयूरासन है।

समय—अभ्यास धीरे—धीरे बढ़ाना चाहिए।

लाभ—इसके लाभ बहुत अधिक हैं।

हरित सकल रोगानाशु गुल्मोदरा दीन्।
अभि भवति च दोषानासनं श्रीमयूरम्।
बहुकदशनभुक्त भस्म कुर्य्यादशेसम्।
जनयाति जठराग्नि जारयेत्कालकूट्म्।।

अर्थात् यह आसन गुल्मोदर सभी पेट से सम्बन्ध रखने वाले रोगों का नाश करता है। दोषों का पाचन करता है एवं बहुत अधिक खोलने पर भी बहुत ही जल्दी भस्मावशेष करके जठराग्नि को बढ़ाता है। कालकूट विष तक को जला देने की शक्ति इस मयूरासन में है।

सर्वाङ्गासन

विधि—समावस्थान से सीधे लेट जायें, उसके बाद अपने पैरों को धीरे—धीरे ऊँचे उठाते जायें, इतने ऊँचे उठाओ कि कण्ठ तक का सारा शरीर समसूत्रता में सीधा हो जाये,

शरीर के बिल्कुल सीधा हो जाने के बाद अपने दोनों हाथों को नितम्ब स्थल से ऊपर के भाग कटि प्रदेश में इस प्रकार जमाओ कि ऊपर को उठा हुआ सारा शरीर समकाय शिरोग्रीव की रीति से बिल्कुल सीधा हो जाये। इसी का नाम सर्वाङ्गासन है। यह सर्वाङ्ग आसन कई आसनों में विभक्त है जैसे हलआसन, कर्णपीडनासन आदि आदि। अत: उपरोक्त बताई विधि के अनुसार किये जाने वाले इस साधन को उर्ध्व सर्वाङ्गासन कहते हैं।

अभ्यास क्रम—पूर्व कथित नियम के अनुसार इसका अभ्यास भी धीरे–धीरे ही बढ़ाना चाहिए। इससे यह आसन 1 मिनट से आरम्भ करके फिर प्रतिदिन एक एक मिनट बढ़ाया जा सकता है।

लाभ—यह आसन सब प्रकार के वात रोगों का नाशक है क्षुधावर्धक है। यकृत, प्लीहा व गुल्म आदि रोगों में परम लाभदायक है। रक्तशोधक है। कुछ और थोड़े से नियमों का पालन करने के साथ यदि इस आसन का अभ्यास बढ़ाया जाये तो गुर्दे, पथरी व पित्त की थैली (जिगर के नीचे होती है) में होने वाली पथरी आदि सब कठिन बीमारियों को बिल्कुल निर्मूल कर देता है।

हल–आसन

विधि—उपरोक्त सर्वाङ्गासन को हल की आकृति में परिवर्तित कर देने को ही हलासन कहते हैं। जिस प्रकार उपरोक्त उर्ध्वसर्वाङ्गासन में पैर ऊपर की ओर सीधे खड़े हैं। इनमें इतना अन्तर करना चाहिए अवश्य पिछली ओर थोड़ा सा झुका दें। नितम्ब भाग थोड़ा पीछे से हट जायेगा, दोनों हाथ पिछली ओर जमीन पर बिल्कुल सीधे जम जायेंगे जिससे देखने वालो को मालमू हो कि ये फैले हुए दोनों हाथ हल में लगने वाली लोहे की फाली के रूपक से बन गये हैं। पिछली ओर झुके हुये थोड़े पैर हल की आकृति में बन जाते हैं। अत: इस आसन को हल आसन कहते हैं।

समय—अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये।

लाभ—इस आसन के करने से भी उदर विकारों में लाभ पहुँचता है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। इसको भी सर्वाङ्गआसन की ही तरह बढ़ाया जा सकता है।

अमृतकण

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।

एष: धर्म: पर: साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते।।

माता, पिता और आचार्य–इन तीनों की सेवा से ही पुरुष का सब कार्य सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं।

◆ ◆ ◆

विहाय कामान् य: सर्वान् पुमांश्चरति नि: स्पृह: । ?

निर्ममो निरहंकार स शान्तिमधि गच्छति।।

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर और ममता तथा अहंकार से रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्ति को प्राप्त होता है, जो परमात्मा की प्राप्ति होने पर मिलती है।

◆ ◆ ◆

मूर्खस्य षट् चिह्नानि-गर्वो दुर्वचनम्

तिक्रुद्धो दृढ़वाणी परनिन्दा स्वयंस्तुति।

गर्व, दुर्वचन, क्रोध, कठोर वाणी, दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा–ये छ: चिन्ह मूर्खता के द्योतक हैं। ये सभी दुर्गुण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। समझदार और बुद्धिमान व्यक्ति इससे दूर ही रहते हैं।

◆ ◆ ◆

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।

पारं दु:खोदधेर्यातुं तरी यावन्न भिद्यते।।

बहुत बड़े पुण्य के प्रभाव से दु:ख रूप भवसागर से तरने के लिए ही यह कायारूपी–देहरूपी नौका तुमने प्राप्त की है। जब तक वह टूट-फूट नहीं जाती, उसके पहले ही भवसागर से तर जा।

●●●

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/18-20 NOVEMBER 2020

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

स मुक्तिपदमर्हति !

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।
मोहो विनिर्जितोयेन स मुक्तिपदमर्हति।।

शरीरादि में मोह रखना ही मुमुक्षु की बड़ी भारी मौत है। जिसने मोह को जीत लिया है वही मुक्तिपद का अधिकारी बनता है।

जीवन-दर्शन

स्वामी दर्शनानन्द के उपदेश

- जिस धारणवती बुद्धि से परमात्मा को देखा जाता है, जब तक वह बुद्धि उत्पन्न न हो तब तक परमात्मा को कोई भी नहीं जान सकता। यह बुद्धि वेदादि शास्त्रों में पढ़ने से प्राप्त होती है। सत्पुरुषों के सत्संग से सुलभ होती है।

- विद्वान और सुशिक्षित व्यक्ति तो अनाग भविष्य के लिये ही पुरुषार्थ करते हैं परन्तु मूर्ख व्यक्ति केवल वर्तमान के लिए।

- जो कर्म का पका हुआ फल है उसको बदलने की शक्ति किसी में नहीं। उसको बदलने के लिए परिश्रम करना आयु को व्यर्थ खोना है।

- जिस प्रकार हमें किसी मकान पर चढ़ने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु गिरने के लिए तनिक पैर फिसल जाना ही बहुत है, किसी श्रम की आवश्यकता ही नहीं, इसी प्रकार मनुष्य को धर्म के ऊँचे शिखर पर चढ़ने के लिए श्रम की आवश्यकता पड़ती है अधर्म तो स्वमेव हो जाता है।

- अच्छे और बुरे दो मार्गों से इच्छा की प्रवृत्ति होती है। तुम्हारा काम केवल इच्छा को बुरे मार्ग से रोककर अच्छे में चलाना है।

- जब जीव ज्ञान के अनुसार कर्म करता है तो उसको सुख होता है। और जब वह कर्म को मुख्य मानकर ज्ञान को पीछे रखता है तो उसे दुःख होता है। जैसे जब मनुष्य मार्ग देखकर चलता है तो ठोकर नहीं खाता और जो देखकर नहीं चलता वह प्रायः ठोकर खाता है। अतः अज्ञानपूर्वक किया गया काम ही दुःख का हेतु है।

●●●